२२४
कहानी

८२१६.
२०/२/६०

अंधेरे की आँखें

श्रवण कुमार

नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली

© १९६९, श्रवणकुमार

Shrawan Kumar
BF-3, Tagore Ga... , New Delhi-27

मूल्य : चार रुपए

प्रथम संस्करण, १९६९

आवरण : जीवन अडालजा

प्रकाशक
नेशनल पब्लिशिंग हाउस
२/३५, अन्सारी रोड, दरियागंज, दिल्ली-६

मुद्रक : सिटीजन प्रिंटर्स, नई दिल्ली-५

BF-3, Tagore Garden, New Delhi-27

७२९६
२०/२/६०

२२८
कहानी

विनीत बेटे के लिए

८२१६
२.१२.६०

कहानी से पहले

नारे लगाती भीड़ और उसमें अकेला मैं।

मैं और भीड़।

मैं देखता हूँ कि भीड़ के बीच कुछ मदारी हैं जो मजमा लगाये हुए हैं, बाजीगर हैं जो अपने-अपने जमूरों के माध्यम से अन्तर्यामी बने हुए हैं। कुछ सरकसी तीरदाज हैं जो अपने निशाने से तो नहीं चूकते, पर उनके हाथ भी कुछ नहीं लगता। फिर कुछ कसरती भी हैं जो अपने मास-पुट्ठे दिखा-दिखाकर दूसरों को प्रभावित करना चाहते हैं। लेकिन होता कुछ भी नहीं। लोग तमाशा देखते हैं, कभी-कभार नारों की आवाजों में अपनी आवाज भी मिलाते हैं और आगे बढ़ जाते हैं। दरअसल, ये (मदारी इत्यादि सब) सतह के बुलबुले हैं जो एक क्षण के लिए उठते हैं और फिस् हो जाते हैं।

मानता हूं कि कहानीकार अपने समय से जुड़ा हुआ होता है। किन्तु नारेबाजी उसका स्वभाव नहीं है, यद्यपि हकीकत यही है कि नारेबाजों ने ही आजकल सारे वातावरण को अपने से जोड़ रखा है। कहानी या तो किस्सागोई होकर रह गयी है, या कहानी के कहानीपन से इतना हट गयी है कि लेखक का औपचारिक स्वातन्त्र्य ही प्रचार के तहत कहानी का सर्वस्व घोषित किया जाने लगा है।

तो आखिर सचाई क्या है ?—कहानी सम्बन्धी नारा या कहानी ? लेकिन कहानी को मैंने कभी किस्सागोई नहीं माना। किस्सागोई से मेरा अभिप्राय केवल किस्से गढ़ने या मनोरंजन करने से है। मेरे लिए वह आत्मान्वेषणिक प्रक्रिया है, जिसके माध्यम से आदमी अपने को खोजता है। और इसी प्रक्रिया की अनुरूपता सृजन के रूप में परिफलित होती है...इसमें कुछ भी सायास नहीं होता...

अन्वेषण के साथ-साथ लगी एक और अवस्था भी है और वह

अवस्था है संघर्ष की, भीतरी तथा बाहरी। संघर्ष के अभाव में अन्वेषण की कोई भी स्थिति नहीं होती।...कुछ वैयक्तिक नियति की भी बात है। मैं जिस परिवेश में जीया, उसमें संघर्ष से ही साबका पड़ा। इसलिए जहां दूसरों के लिए स्थिति सामान्य थी मुझे वहां बजरी में घिसटने के समान लगा, और परिणामतः वही संघर्ष। दूसरे मानों में समूची स्थिति बगावत की शक्ल अख्तियार करती गयी...

कुछ ऐसे ही परिवेश में मैं अब घिरा हूं, उसमें जीता हूं। यह परिवेश मेरी चेतना में एक ऐसे वर्ग को प्रतिबिम्बित करता है जो स्वतंत्रता के बाद अनेक उलझी हुई परिस्थितियों और सहज-प्राप्य साधनों से परिपुष्ट हुआ और सहसा उन सभी चीजों को भोगने और उनसे संवरने के लिए उभर आया जो कभी उनके लिए दूर-दराज की चीजें थीं। यह वर्ग 'नूवो रिश' (*nouveau riche*) वर्ग है···नवधनाढ्य···जिसने कभी कोई क्रान्ति नहीं की, बल्कि क्रान्ति के बाद भी ऐसे ही वर्ग ने वक्त को 'कैश' किया। मेरी कहानियां 'बच्चा', 'मैं और वह' तथा 'बवंडर' इसी वर्ग को उसके खंडित अंशों में उद्घाटित करती हैं। इसमें वही कुछ है जिसे देख कर हमारे अर्जित मूल्यों और मान्यताओं को धक्का पहुंचता है। तटस्थ-सी बनी बुद्धि के पैताने एक ऐसी चीज आ बैठती है जिसे ठोकर मारने को जी चाहता है। तब मात्र चित्रण ही कहानी का उद्देश्य नहीं रहता, कहानी के माध्यम से कुछ गहरा अवसाद भी सामने आता है। यह सब उस मनःस्थिति को व्यक्त करता है जहां एक बार फिर, चाहे शायस्तगी से ही, बगावत को हवा देने को जी होता है। 'अंधेरे की आंखें' चाहे मैंने १९५५ में लिखी थी लेकिन इस दृष्टि से वह मेरे अब भी उतनी ही नजदीक है। इसमें एक ऐसा व्यक्ति उभरता है जो 'नूवो रिश' न होते हुए भी पैसे बटोरने के हर ढंग में माहिर है, और जिधर भी उसकी नजर उठती है उधर से ही पैसे समेटती लौटती है। एक प्रकार से उसके व्यवसाय के फैलाव ने तिजोरी की शक्ल ले रखी है जो बराबर भरती ही जाती है और फिर भी कभी भरती नहीं। पहाड़ों की निश्छलता को जैसे उसने विषाक्त कर रखा हो। पर यहां 'नूवो रिश' के प्रति होनेवाला बेबसी का एहसास नहीं होता, 'बगावत को हवा देने' [illegible] स भी नहीं होता, एक क्षुद्र व्यक्ति के प्रति जो

उपेक्षा-मिश्रित-दया (*pity*) का-सा भाव होता है, कुछ ऐसा होता है।

कुल मिला कर बात इन कहानियों के संदर्भ में वहां आकर ठहर जाती है जहां कहानी जिन्दगी से सीधे-सीधे अपना रिश्ता जोड़ ले। कहानी जब एक जटिल रचना होकर सामने आती है तो उसका कहानीपन उस औपचारिक जटिलता के कारण पाठक से संवाद का रिश्ता नहीं बनाता। कहानी पढ़ते वक्त पाठक का मूड समूची कहानी को ग्रहण करने का होता है। इसलिए तमाम बाहरी सघर्षों को अपनी प्रक्रिया के जरिये कहानी में उतारते वक्त कहानी का सहज होना बहुत जरूरी है। भाषा के इस्तेमाल में भी व्यर्थ की बाजीगिरी निहायत बोदापन लगती है। कहानी से कहानी की अभिधा छीन लेना भी एक प्रकार का व्यभिचार-सा है जिसमें साहित्य की 'मर्यादाओं' का विघटन होता है। मर्यादाओं से मेरा अभिप्राय किसी रूढ़ आशय से नहीं है, वल्कि उस खुली दृष्टि की अपेक्षा से है जो सहजता की मांग करती है। सहजता सवाद के रिश्ते को बढ़ाती है।

कृतज्ञताज्ञापन में औपचारिकता होते हुए भी आदमी से आदमी के रिश्ते का बोध तो है ही। इसलिए यहां मैं उन सब मित्रों के प्रति कृतज्ञताज्ञापन करना चाहता हू जो समय-समय पर मुझे सही सकेत देते रहे। मैं उन सपादकों तथा प्रकाशकों के प्रति भी आभारी हूं जिनकी पत्र-पत्रिकाओं में मेरी ये रचनाए समय-समय पर प्रकाशित होती रहीं। इनमें मुख्य पत्र-पत्रिकाएं हैं सारिका, साप्ताहिक हिन्दुस्तान, ज्ञानोदय, निकष ३-४, युगचेतना, नई कहानियाँ, रविवासरीय हिन्दुस्तान, अणिमा इत्यादि।

श्रवणकुमार

क्रम

कहानी से पहले

चमड़ी पर जमता मोम

मैं और वह

ववंडर

पहला दिन

नयी सुबह और मेरी पत्नी

धूआं

बीवियां और बीवियां

बच्चा

क़हक़हे

विरोध

अभाव-पूर्ति

भिखमंगे

गिद्ध

अंधेरे की आंखें

दबाव

नंगे

चमड़ी पर जमता मोम

उस दिन दफ्तर में ही टेलीफोन आ गया था कि लौट आओ, तबीयत खराब हो गयी है। मुझे जैसे कोई कंधों से पकड़कर नीचे खींचने लगा था। या सिर के बीचों-बीच आरे से चीरने लगा था। मैं अफ़सर के सामने काँपती आवाज़ ले गया था। मुझे लगने लगा था कि मेरा चेहरा पिचक गया है और मेरी आँखें धँस गयी हैं। ऐसी स्थिति में मैं अपने भीतर ही भीतर नाटक करने लगता हूं, एक ट्रैजेडियन की तरह। लेकिन उस समय नहीं। उस समय मैं सीधा उनकी केबिन की तरफ़ लपका था, और झट से डोर-हैंडल घुमाकर दरवाज़े के बीच में खड़े-खड़े ही बोला था, "मैं घर जा रहा हूं। मेरी पत्नी की तबीयत ठीक नहीं।" उस समय वह भी कुछ नहीं बोला था, यद्यपि वैसे हम एक दूसरे का सामना कम ही करते हैं।

छुट्टी लेकर मैं सीधे बस-स्टैंड की ओर भागा था, लेकिन बस कोई नहीं मिली थी। फिर मैंने स्कूटर-रिक्शा चाहा था, और वह भी नहीं

मिल पाता था। मिल पाता भी था तो कोई उधर जाने को राजी नहीं होता था। राजी होता भी था तो किराया आप-का-आप मांगता था। इससे अच्छा तो मैं टैक्सी ही कर लूं, मैंने सोचा था, लेकिन जेब का ख्याल करके मैं चुप रह गया था। लेकिन फिर अचानक बस ही आ गयी थी। यह सब ऐसे ही हुआ था जैसे पानी पीने जाओ और सब नल सूख जाएं, और फिर उनमें एकाएक पानी आ जाए।

यह कोई घटना नहीं थी, लेकिन फिर भी सब कुछ घट गया था। घर पहुँचने को था तो मुझे लगा था जैसे घर के सामने भीड़ लगी हो और लोग जनाजे की तैयारी कर रहे हों। मेरी गति ऐसे ही तेज हो गयी थी और मैं भीतर ही भीतर भागने लगा था।

मन खाली-खाली है। दरअसल इसमें कुछ टिकता ही नहीं। सब कहीं फिसल जाता है। जैसे रेत अंगुलियों में से।

उसने कहा था कि मैं किसी दूसरी औरत का इन्तजाम कर लूं। वह राहत चाहती है। रोज़-रोज, रोज़-रोज, उससे यह नहीं बनता। सुनकर मैं एकदम संजीदा हो गया था। मैं यह सब कैसे कर सकता हूं? मैंने यह सब कभी किया ही नहीं। नहीं, किया था। एक बार। एक बार जब मैं अविवाहित था। लेकिन तब भी मैंने नहीं किया था। उसने स्वयं ही किया था। वह स्वयं ही इठलाती हुई मेरे दरवाज़े के सामने से गुज़री थी, गॉगल्स चढ़ाए हुए। वह एक नहीं, कई बार गुजरी थी। इसी से मुझे शह मिली थी। मेरे मुंह से बड़े झिझकते-झिझकते ही निकला था—"मेम साहब, हर वक्त धूप का चश्मा मत चढ़ाया करो, फोटो-फोबिया हो जाएगा।" कहने को तो मैं कह गया था लेकिन फिर एकदम ही घबरा भी गया था। फोटोफोबिया? लेकिन वह नहीं समझी थी। शायद वह कम पढ़ी-लिखी थी। लेकिन उसके अंदाज बुरे न थे। बस इतने से ही वह मुझ पर रीझ गयी थी और फिर अर्से तक

हम पति-पत्नी की तरह रहते रहे थे। लेकिन हमने शादी नही की थी। शादी के नाम पर उसे मैं हमेशा झटका दे देता था और वह सह लेती थी। केवल भोग करो, भोग करो, मैं कहता था, भोग ही में जीवन है, और वह उसी से संतोष कर बैठी थी।

अगर मैं सड़क पार कर लू तो उस लड़की के पीछे-पीछे हो सकता हूँ। लड़की के पीछे पीछे चलना दरअसल मुझे बहुत अच्छा लगता है, विशेषकर जब उसका गठन अच्छा हो और पीछा भारी हो। पीछे से देखने में आजकल प्राय सब लड़कियाँ अच्छी लगती हैं। उनके नितम्ब जैसे उनका चेहरा बन गये हैं। तमाम जलाल वहीं टपकता है। चेहरा तो कभी-कभी रेगिस्तान का टीला होता है। तब मैं नितम्बद्वय के बीच अपना हाथ रख देना चाहता हूँ। एक बार मैंने उनसे हाथ छुआया भी था। तब वह बस से उतर रही थी। बस मे वह मुझसे सटकर खड़ी रही थी। जरा भी उधी-अधी नहीं बोली थी। न ही उसने मेरी ओर तरेरकर ही देखा था। देखा था तो केवल सहज भाव से, कुछ-कुछ मुस्कराहट के साथ। मुझे लगा था कि अब बस मेरे 'हेलो' कहने की देर है और वह भाग जाएगी। फिर बस से उतर कर मैं उसके साथ-साथ हो लिया था, कदम-ब-कदम, बिलकुल तैयार, जैसे घोड़ा दबाया और गोली छूटी। लेकिन जब उसने मेरी ओर देखा था तो मैं एकाएक सकपका गया था। जैसे चोरी करते-करते किसी ने पकड़ लिया हो। उस समय मेरे चेहरे का भाव गलत हो गया होगा, ठीक वैसे ही जैसे कभी-कभी अपने परिचितों से बात करते-करते हो जाता है। पता नहीं उस समय शायद मेरे चेहरे पर कालौंच उतर आती हो। लेकिन फिर लगभग वैसा ही भाव मैं उनके चेहरों पर भी देखने लगता हूँ, और फिर हम तुरन्त ही जुदा हो जाना चाहते हैं, ऐसे ही, एक दूसरे से आँखें बचाते हुए, हारे हुए प्रतिद्वंद्वियों की तरह। हमारे आपस मे मिले हुए हाथ भी मुर्दा

मछलियों की तरह अलग आते हैं, और फिर लगता है कि हम फिर कभी नहीं मिलेंगे। लेकिन फिर मिलते हैं, और फिर ऐसे ही आगे बढ़ते हैं, और फिर आगे हुए [illegible] से आते हैं। कभी-कभी तो यह भी होता है कि मैं उनको देखते हुए भी उनके पास से निकल जाता हूं, या देखते हुए भी अनदेखा कर जाता हूं।

मुझे लगता है कि मैं एक धू-धू जलती हुई मशाल हूं जो हर क्षण सुलगती रहती है। सुबह उठता हूं तब भी वह सुलगती रहती है। मिल्क बूथ की ओर दूध लेने जाता हूं, तब भी वह सुलगती रहती है। मिल्क बूथ की ओर जाते समय दूध की बोतलें खनन-खनन आपस में टकराती हैं, जैसे मन में भी कोई दूध की बोतलें टकराती हों। फिर मुझे लगता है कि मैं बर्फ में दबी हुई एक छिपकली हूं। क्योंकि मुझ में कोई हरकत नहीं है। क्योंकि मैं बर्फ में जम गया हूं। मेरे दोस्त को मेरी बात अच्छी लगी थी। काफ़्का भी ऐसे ही सोचता था, उसने कहा था। काफ़्का निस्सहाय अवस्था की बात सोचता था, किसी के समुद्र में डूबते-उतराते हुए हाथ-पांव मारने की बात। उसकी बात पर मुझे हंसी आ गयी थी। लेकिन फिर मैंने अचानक ही कहा था, इन ऊंची-ऊंची, आलीशान बिल्डिंगों को देखो। इन ऊंचे-ऊंचे उठते शीश-महलों को देखो। क्या ऐसे नहीं लगता जैसे इनकी आत्मा मर गयी हो? या हो ही नहीं? उसको मेरी बात समझ नहीं आयी थी। मैंने बड़े-बड़े अस्पतालों की बात की थी जिनकी इमारतों को देखकर ऐसे लगता है जैसे उनमें मसीहा बसते हों, लेकिन उनसे वास्ता पड़ने पर ही पता चलता है कि वे मसीहा किस सलीब का भार ढो रहे हैं।

अस्पताल की बात मेरे मुंह स अचानक ही निकल गयी थी, और मेरे दोस्त की आंखें फैलते-फैलते फैलती ही गयी थीं। उसे एकाएक कुछ याद आ गया था। उसे याद आने का कुछ दौरा-सा उठता है। तब

उसके सामने कुछ अजीबो-गरीब दृश्य घिरने लगते हैं। उसके अन्दर जैसे कोई आवाजें बोलने लगती हैं। काट दो, काट दो इसका गला, वे कहती हैं। इसका सिर कुचल दो। इसको कोठरी मे बंद कर दो जिससे वह वहीं दम घुटकर मर जाए। या खुद ही खिड़की से कूद जाओ। खत्म कर दो अपनी यह जिन्दगी। वह उन आवाज़ों को नहीं सुनना चाहता, लेकिन वे बन्द होती ही नहीं। किसका वह गला काटे? अपने बेटे का? बाद में सोच-सोचकर वह ग्लानि से गलने लगता है। तब उसे अपने पर बेहद शर्म आती है। क्या वह पागल नहीं है? पागलपन और क्या होता है? जैसे कोई भूत सिर चढ़कर बोलता हो। कई बार उसने सोचा है कि इससे अच्छा वह अपने को ही खत्म कर दे। पहले उसे दूसरी तरह की शकाएँ सताया करती थीं। जैसे तुम्हारी बीवी खत्म हो गयी है, तुम उसको छू कर देखो। और वह आधी रात को उठकर उसे छूकर देखता था, और तब कहीं सो पाता था। लेकिन अब तो सो पाना भी एक सपना हो गया है।

एक दिन मैंने उससे पूछ ही लिया था और उसने बताया था। उसने बताया ही नहीं था बल्कि एक बात को दस-दस बार दुहराया था। दस-दस बार दुहराये बिना उसे यकीन ही नहीं होता था कि बात मेरी समझ में आ रही है। उसने बताया था कि उसके कोई बच्चा न था और फिर एक बार अचानक होने की उम्मीद हो गयी थी। तब वे बहुत खुश थे, जैसे जीवन की सब उम्मीदें बर आयी हों। और फिर इस डर से कि पत्नी को कोई तकलीफ न हो जाए, उन्होंने हर प्रकार की एहतियात बरती थी। वह ठीक आठ महीनों तक सीधी बिस्तर पर लेटी रही थी। दवा-दारू भी खूब किया था। लेकिन आठवें महीने तकलीफ फिर भी हो ही गयी थी। समुद्र में जैसे तूफान आ गया था। सब किया कराया बेकार था। या डाक्टरों की जाँच ही गलत थी। लानत है ऐसे डाक्टरों पर जो आँखें होते हुए भी अंधे हैं। किसी को ठीक से पता न चलता था। फिर ऑपरेशन के लिए अस्पताल में दाखिल किया

गया। उसको (बीवी) कैदियों जैसे कपड़े पहना दिये गये थे, एक खद्दर का जम्पर और एक वैसा ही पेटीकोट। उसके जेवर-जूवर सब उतरवा लिए गये थे। बिना जेवरों के अच्छी भली औरत भी बेआब लगने लगती है, और वह तो भला बीमार ही थी। उसके मन को बहुत धक्का लगा था। फिर कुछ दिनों तक बीवी का बिस्तर न बदला गया, न ही उसके कपड़े बदले गये। उसने कई बार अपने पति से शिकायत की। आखिर एक दिन दोस्त ने अस्पताल की इंचार्ज से शिकायत कर दी। दूसरे दिन जब वह पत्नी को देखने गया तो वह जार-जार रोती थी। हाय, मुझे जमादारिन ने ऐसा कहा। हाय, उन्होंने मेरी ऐसे बेइज्जती की। क्यों री लुगाई, कल अभी आयी नहीं और आज हमारी शिकायत होने लगी, जमादारिन ने कहा था। मैं तेरी..., और उसने एक गंदी-सी गाली दी थी। उसकी पत्नी यह ही सोच-सोच कर रोती रही थी कि आखिर उसे एक भंगिन से भी बेइज्जती करवानी थी। पत्नी को रोता देखकर पति का दिल बैठने लगा था। उसे लगा था जैसे वह अब कभी ठीक नहीं होगी। और वह हमेशा यही बात सोचता रहा था, उठते-बैठते, जागते-सोते। फिर वह रात-रात भर जागने लगा था, और बार-बार शौच करने लगा था, और रह-रह कर पत्नी को छू-छू कर देखने लगा था कि वह ज़िन्दा तो है !

मैं घर पहुँचता हूँ तो वह दम साधे पड़ी है। कुछ हिलती-डुलती नहीं। वह चुप है। देखो, मैं किस तरह तुम्हारे लिए भागता हुआ आया हूं, मैं कहता हूँ। लेकिन वह कुछ नहीं कहती। यह इतना बड़ा शहर है कि सारी ताकत बसों-वाहनों के चक्कर में ही सर्फ हो जाती है, मैं फिर कहता हूँ। मैं इससे पहले पहुंच ही नहीं सकता था। एक घंटा तो बस के चलते-चलते ही चाहिए। फिर उसके लिए जो इंतज़ार करनी पड़ी थी वह अलग। यह हमारी डेस्टिनी है। लेकिन वह कुछ नहीं कहती।

केवल चुप है। चुप ! कुछ बोलो भी, मैं कहता हूँ, तुम्हें क्या तकलीफ है ? क्यों तुमने टेलीफोन करवाया था ? लेकिन उसकी चुप्पी मोम की तरह जमती जा रही है। गरम मोम जैसे ठंडी चमड़ी पर जमने लगे। पहले थोड़ी तकलीफ होती है, जलन-सी भी, लेकिन बाद में केवल मोम का चमड़ी पर चिपके रहने का एहसास ही रह जाता है। लेकिन मोम के जमने-जमते तक ही मैं तिलमिला उठता हूँ। मुझे यातना न दो, मेरा आत्मांश धीरे-धीरे उमगने लगता है। मैं बात करता हूं तो वह रुलाई सी लगती है। तुम मुझे हमेशा ऐसे ही क्यों सताती हो, मैं याचना भरे स्वर में कहता हू। मैं उस समय भीख मांगने के अन्दाज में होता हूँ। और फिर अनायास ही मेरे मुह से निकल जाता है, क्या मैं तुम्हे अच्छा नही लगता ? यदि अच्छा नही लगता तो तुम मुझे छोड क्यों नही देतीं ? कहीं और चली जाओ। जैसे भी तुम खुश रह सकती हो। तुम्हे पैसा चाहिए, वह भी ले जाओ ? लेकिन खुदा के लिए मेरे अन्दर में कीलें न गाड़ो।

वह सुना अनसुना कर देती है।

मैं बिना कुछ कहे ही घर से चल पड़ता हूँ, वैसे ही सब कुछ उलझा हुआ छोड़कर। कुछ भी सुलझता नही। तब मैं एक सिगरेट खरीदता हूँ। उसे थोड़ा पीता हूँ और फंक देता हूँ। फिर और खरीदता हूँ, और उसे भी फेंक देता हूँ। फिर और खरीदता हूँ, और खरीदता हूँ, जिससे मेरे सब पैसे खर्च हो जाए, यद्यपि मैं सिगरेट नही पीता। फिर मुझे याद आता है कि इससे मेरी बीमारी बढ़ सकती है। पर इससे भी मुझ पर कोई असर नही होता। मैं चाहने लगता हूँ कि मेरी बीमारी एकदम बढ़ जाए, और बढ़ जाए, और ऐसे ही मैं जाया होता जाऊँ !

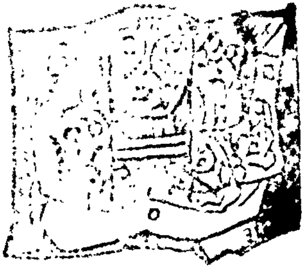

मैं और वह

रात ठिठुरी हुई थी, सड़क सुनसान थी और उस पर मैं निरुद्देश्य भटक रहा था। मेरे भीतर एक प्रकार की आग-सी धधकती रहती थी जो मुझे कभी-कभी इस तरह भटकने पर मजबूर कर देती थी।

मुश्किल से ग्यारह बजे होंगे। सड़क को रोशन करने वाली बिजली की बत्तियों का प्रकाश उस ठंड में जमा हुआ-सा लगता था। कहीं, किसी प्रकार का स्वर नहीं था। धुआं भी ठिठुर कर उस प्रकाश के साथ जम गया था। चारों ओर एक अजब-सा सन्नाटा व्याप रहा था और उस सन्नाटे में मैं चौंक-चौंक जाता था।

मोड़ पर एकाएक मुझे एक कार दिखी, और वह लपकती हुई मेरी ओर ही चली आयी। मुझे लगा कि जैसे मैं उसके नीचे दब जाऊंगा। लेकिन कार बड़ी सफाई से मुझे बचाती हुई ठीक मेरे पास से निकल गयी। सिहरन से मैं झनझना उठा। "इनकी क्या मंशा है? क्या ये मेरी हत्या करना चाहते हैं? लेकिन मैंने तो इनका कुछ नहीं बिगाड़ा?"

कार इतने में घूमकर फिर आयी, और जैसे ही मेरे नजदीक पहुंची वैसे ही झट से रुक गयी। किसी ने फुर्ती से उसका दरवाजा खोला, फिर लपक कर दूसरे दरवाजे की ओर गया और किसी चीज़ को घसीटते हुए उसने उसे बाहर पटक दिया। उस समय मैं बिलकुल स्तम्भित हो रहा था। इसी डर में मेरा मुड़ता होता हुआ शरीर एकाएक कस गया।

फिर जैसे ही मैं अपने में आया, मैंने वहां से भाग जाना ही ठीक समझा। लेकिन भागकर जाता भी कहां ? लगा जैसे चारों ओर से मैं घिर गया हूं, या भयावने स्वर मेरे ऊपर मंडराने लगे हैं। कार अब तक वहां से जा चुकी थी।

इतने में सुनता हूं कि मुझे कोई पुकार रहा है। मुड़कर देखा तो वह गठरी खुलकर खड़ी हो गयी थी। क्या वह कोई प्रेत तो नहीं है ?

लेकिन वह मुझे पुकार रही थी, "मुझे बचाओ।"

न जाने कैसे मैं उसकी ओर खिंचता चला गया। मन में भय तो था, लेकिन नारी देह के प्रति तृष्णा उससे कहीं ज्यादा थी।

समीप से देखने पर वह एक कमनीय सुन्दरी दिखी। ठीक वैसी ही जिसके लिए मेरे मन में हमेशा चाह रही थी। कंधों तक झूलते, कटे हुए केश (यद्यपि वे थोड़े अस्तव्यस्त थे), शरीर को कसती हुई कमीज और चूड़ीदार पाजामा जो उसके अंग-अंग को उभार रहे थे। मैं उस जादू में बंधता-सा गया।

मैंने फिर सुना। वह कह रही थी कि उसे मेरी मदद की जरूरत है। ये रफ़ियन (बदमाश) उसे यहीं फेंक गये। वह चल नहीं सकती। मैं मेहरबानी करके उसे उसके घर पहुंचा दूं।

"लेकिन ये लोग थे कौन ?" मेरे मुंह से अनायास निकल गया। मेरा स्वर भर्राया हुआ था।

वह शायद मेरे किसी भी प्रश्न का उत्तर नहीं देना चाहती थी। फिर भी धीरे से बोली, "मेरे फ्रेंड्स ही थे।"

"फ्रेंड्स ?" मैं सकते में आ गया।

"जी। हम एक ही क्लास में पढ़ते हैं। कॉलेज में डांस की रिहर्सल होती है न, इसीलिए वहां जाते हैं। उनके पास कार है। उन्होंने कहा हम रोज ले जायेंगे, रोज छोड़ जायेंगे। हमारे घर के पास ही उनका घर है। लेकिन आज कमीनों ने धोखा दिया। वहशी। पहले तो अकेली के साथ चार-चार ने वीस्ट्स की तरह व्यवहार किया और फिर यहां पटक गये। मेरी जान लेना चाहते होंगे ताकि मैं कहीं कुछ बोल न दूं। ···ओ, अव तो मुझ से चला भी नहीं जाता।" और पीड़ा से सी-सी करते हुए उसने अपना कदम उठाना चाहा।

कुछ अजव किस्सा लगा। मैंने देखा उसके एक पांव में जूता भी नहीं है। जमीन पर गिरी हुई अपनी ओढ़नी और कोट भी वह उठा नहीं पा रही है।

"आप लोगों के घरवाले क्या करते हैं ?"

"जी, एक के पिताजी, जिसकी कार है, कमीशन एजेंट हैं। वहुत अमीर लोग हैं। मेरे पिताजी वैंक में काम करते हैं।" वह अव कुछ-कुछ स्वस्थ होती दिखती थी।

"लेकिन इस तरह घूमने से आपको कोई टोकता नहीं ?"

"टोकते क्यों नहीं ? मेरी मम्मी तो वहुत सख्त हैं। वह तो मुझे हर वक्त डांटती रहती हैं। अच्छे कपड़े पहनो, तव डांटती हैं। वाल वनवाने जाऊं, तव डांटती हैं।"

शायद उसे यह सफाई देना अच्छा लगा। लेकिन मुझे लगा कि यह जो कुछ घटा उसके प्रति उसे ग्लानि नहीं है, रोप है, इस तरह क्रूरता से व्यवहार किये जाने पर, इस तरह क्रूरता से पटक दिये जाने पर। लेकिन फिर मुझे लगा कि जिसके लिए मेरे भीतर इतनी कुंठाएं जमा हो गयी हैं, इन लड़के-लड़कियों के लिए वह इतना असहज नहीं है। लेकिन न जाने कैसे, उस समय मुझे लग रहा था कि ये लोग अमॉरल हैं। हां, अमॉरल, जव आचार-दुराचार की कोई संज्ञा नही रहती, जव

मान-मर्यादाएं सब बलाएताक रख दी जाती है, जब दरिंदो की तरह आदमी आदमी को खाने लगता है। फिर मुझे याद आया कि मैं चालीस का हो चला हू, अविवाहित हूं और नारी के लिए बराबर तरसता रहता हूं। फिर रुपये-पैसे की भी यह हालत है कि सब पढ़ाई-लिखाई के बावजूद हर महीने वेतन के रूप मे नपी-बधी रकम ही कमा पाता हू, जबकि इन कार वालों को खुदा छप्पर फाड़ कर देता है।

लेकिन वह फिर कह रही थी, "आपकी बड़ी मेहरबानी होगी। आप मुझे मेरे घर पहुचा दीजिए।"

पुलिस-स्टेशन वहां से दूर नही था। एक बार मैंने यह भी सोचा कि मैं उसे वहां पहुंचा दू और अपने सिर से बला टालू, लेकिन यह सोचकर कि पुलिस वाले कही मुझे ही न पकड कर बैठा लें, मैंने यह विचार छोड़ दिया। फिर ऐसे ही बिना सोचे-समझे मैंने उससे कहा, "चलिए।"

लेकिन वह चल नही सकती थी। बड़ी मुश्किल से वह दो-एक कदम उठा पायी।

"मैं चल नही सकती," उसने याचना भरे स्वर मे कहा, "अगर मुझे आप किसी तरह अपनी पीठ पर···।"

उसके इस सुझाव पर मेरा जमता शरीर एकाएक उमगने लगा। मैं कभी इसकी कल्पना भी नहीं कर सकता था। उसके स्पर्श के विचारमात्र ने ही जैसे मुझे उफनती हुई लहरों पर छोड दिया। अपनी पीठ पर उसके शरीर की गरमी का मुझे तीखा एहसास हो रहा था। उसके उरोज उसके भारी कोट के बावजूद भी जैसे मेरे भीतर गड़े जा रहे थे। उसके पेडू एव जघाओं का भी मुझे तीखा एहसास था। उसका सन्तुलन ठीक रखने के लिए मेरे हाथ उसके नितम्बों पर दबाव दे रहे थे। आह, मुझे लगा, जिसके लिए मेरी बराबर भटकन थी वह मुझे अनायास ही मिल गया। मैं चाह रहा था कि बाकी सब भी उसी क्षण पूरा कर डालूं। लेकिन, न जाने क्यों, मैं फिर भी एक प्रकार की भीरुता के वशीभूत रहा।

हम कुछ ही कदम गये थे कि उसकी [illegible] से [illegible] पकड़ी [illegible] न गयी । उसने मेरी पीठ में [illegible] । [illegible] मेरे कंधे का सहारा लिये एक बार फिर चलने की कोशिश कर रही थी, और धीरे-धीरे उसके कदम उठने भी लगे ।

सामने से आती हुई कार का प्रकाश हमें घेर लिया । कार लपकती हुई वैसे ही हमारी ओर चली आयी । फिर वैसे ही ब्रेक लगने पर पहियों की चीखें । किसी ने खिड़की से सिर निकाल कर उस लड़की को पुकारा ।

"नहीं-नहीं, मैं अब तुम्हारे साथ कभी नहीं जाऊंगी," वह चिल्लायी, "तुम कमीने हो । तुम वहशी हो । तुमने मुझे धोखा दिया । तुम मेरी हत्या करना चाहते थे ।"

खिड़की से बाहर निकला सिर फिर भीतर हो गया । कार ने झटके से रफ्तार पकड़ी और पल भर में गायब हो गयी ।

हम वैसे ही पांव साधे चले जा रहे थे । वह इस बीच कुछ न बोली । क्या मैं इसे अपने कमरे में ले जाऊं ?

हम फिर थोड़ी ही दूर गये थे कि सामने से दो आकृतियां आती दिखीं । उनका एकाएक ऐसे प्रकट हो जाना मुझे खतरे से खाली न लगा ।

वे आकृतियां जब हमारे समीप आयीं तो एक ने उस लड़की का नाम लेकर पुकारा । लड़की ने पहले तो कुछ आना-कानी की, लेकिन फिर उनसे बात करने को राजी हो गयी । 'एक मिनट के लिए' मुझसे आज्ञा लेकर वह अलग से उनसे कुछ घुसर-पुसर करने लगी । फिर तत्परता से वह मेरी ओर बढ़ी और मेरा 'बहुत-बहुत धन्यवाद' करती हुई बोली, "अब इन्होंने क्षमा मांग ली है । अब वे मुझे मेरे ठिकाने पर पहुंचा देंगे ।" और उनका सहारा लिये वह वैसे ही कदम साधती हुई बढ़ चली ।

मैं स्तब्ध था और मेरा शरीर फिर वैसे ही ठंड से जमने लगा था ।

बवंडर

जल्दी-जल्दी बस-स्टैंड की ओर बढ़ रहा हूं। दफ्तर में देर हो गयी है। वहां कभी-कभी मीलों लम्बी लाइन होती है। विशेषकर जब मुझे देर हो जाए।

मैं लपककर लाइन में खड़ा हो जाता हूँ। फुदककर। ऐसे ही मैंने सड़क पार की थी। केवल एक बार दाएं और एक बार बाएं देखा था और फिर स्कूटर-साइकलों के घेरते चक्रव्यूह से बचते हुए सड़क के पार हो गया था।

बस नहीं आवेगी। देर में और देर होती है। दफ्तर में जाकर हाजरी भी लगाऊंगा। वहां समय भी लिखूंगा। नौ। चाहे मैं दस बजे ही पहुंचूं। 'वह' होगा तो दस ही लिखने पड़ेंगे। लेकिन 'वह' खुद ही दस से पहले नहीं पहुंच पाता। जिस दिन पहुंच जाए, उस दिन सबको ठीक समय पर पहुँचने की हिदायत देना रहता है। "मि० राज, आप तो कभी गलती से भी वक्त पर नहीं आ पाते," वह कहेगा। या हाजरी रजिस्टर में लाल निशान ही लगा देगा, और अगले महीने हमको सामूहिक रूप से

एक 'फर्रा' मिल जाएगा—"ऐसे लोग, महीने में दस-दस दिनों की देर से आते । इनको हिदायत दी जाती है कि वे यदि भविष्य में समय पर न आये तो उनको गृह-मंत्रालय के ज्ञापन सं० ...।"

पिछले महीने में चार दिन लेट था । इसलिए 'फर्रा' मिला था । गज़ेटिड अफ़सर होने पर सब मज़े-ही-मज़े हैं । न कोई वक्त पर आने को कहे, और न कोई 'फर्रा' दे । कहेगा भी तो बड़ी नरमाई से । "आप तो एक जिम्मेदार अफसर हैं, आप...।" काम को भी कोई अधिक नहीं पूछता । काम होगा भी तो हमको सुनाया जाएगा, और बड़े साहब का नाम लेकर एक 'डोज' पिला दी जाएगी—"देखो, बॉस कहता था, व्हाई डोंट यू मेक दीज ब्वॉएज़ वर्क ?" मानो हम 'ब्वाएज़' हैं । छोड़ो ! जैसे 'ब्वाए' चाय लाओ । और खुद तमाम दिन ठहाके लगाओ, ठहा-हा-हा-हा, ठही-ही-ही-ही । चाय पीओ । हर आध घंटे बाद । या एक घंटे बाद । या दो घंटे बाद । दोस्तों को भी पिलाओ, या दोस्तों से पीओ । हर आध घंटे बाद । या एक घंटे बाद । या दो घंटे बाद । चाय-चाय-चाय ! ठहाके-ठहाके-ठहाके ! फिर टेलीफोन की घंटी बजती है, ट्रिन-ट्रिन, ट्रिन-ट्रिन । "हां, मैं बोल रहा हूं ।" फिर जोर का ठहाका ।

मन उदास है, एकदम उदास । खाली है, एकदम खाली । आंखें कभी-कभी पीड़ाने लगती हैं । गर्दन भी । गर्दन में तो ऐंठन-सी होने लगती है । शायद चश्मे का नम्बर बदल गया हो । शायद...। ऐसे ही जैसे संभोग करने के बाद सोकर उठें । अलसाये से । विस्मृति में । देखते कहीं और हैं, दिखता कुछ और है । कहना कुछ चाहते हैं, मुंह से निकलता कुछ और है । ज़बान लरज़ जाती है । कभी-कभी ऐसे ही हाथ नचाकर रह जाते हैं ।

मैंने खुद ही अफ़सर से हार मान ली थी । मैं जो स्कूली दिनों में समूची किताब रट जाता था । लेकिन अब वह बात नहीं है । अब तो

सुबह का खाया शाम तक याद रखना मुश्किल है। फिर कागजात का याद रखना तो और भी मुश्किल है। दरअसल, यह भी एक बीमारी है। स्मृति-भ्रम की। अकगर ने कहा था यह 'एमनीशिया' है। खुदा का लाख शुकर है कि अभी मुझे 'कम्पलीट एमनीशिया' नहीं है, नहीं तो, नहीं तो…। जैसे धीरे-धीरे यूरी को होने लगा था, जैसे कभी-कभी किसी बड़े सदमे के बाद होता है, जब इन्द्रियों में किसी बात की पकड़ नहीं रहती।

मेरी सारी ताकत तो ऐसे ही जाया हो जाती है, बसों की इन्तजार करते-करते या बसों के पीछे भागते। बस पीछे से आती है तो बहुधा रुकती ही नहीं। कभी किसी यात्री ने उतरना हुआ तो रुक गयी, वरना खाली होने पर भी नहीं रुकती। और कभी रुकती ही है तो दो-एक यात्रियों को लेकर चल पड़ती है। फिर ऐसा भी होता है कि यात्री अभी चढ़ ही रहे होते हैं कि कंडक्टर टिन-टिन घंटी बजा देता है। कभी-कभी तो यात्री लुढ़कते-लुढ़कते बच जाते हैं। कभी-कभी बस के साथ-साथ घिसटने भी लगते हैं। जैसे एक दिन मैं। मुझे लग रहा था अभी मेरा हाथ हैंडल-बार से छूटेगा और अभी मैं पहिये के नीचे दब जाऊंगा, पिच्, ऐसे ही जैसे खटमल अंगुली और अंगूठे के बीच दबकर पिच् हो जाता है। खून की एक पतली-सी धार उछलती है और बस। कभी-कभी यात्री इस तरह बिखर कर गिरते हैं जैसे कोई मुट्ठी में चावल भरकर फेंक दे। उस दिन तो एक बेचारा जब चढ़ने को था तो थोड़ा मुस्कराया था, लेकिन बस में गिरते ही सुन्न पड़ गया था।

कभी-कभी मुझे लगता है कि मैं कहीं पागल न हो जाऊं। दफ्तर जाते-जाते वाक्यों का सिलसिला बराबर मन में लगा रहता है। तब मेरे चेहरे पर खून का दौरा भी तेज हो जाता है। लगता है जैसे भाप निकल रही हो, गरम लोहे पर ठंडा पानी डालने से जैसे।

दफ्तर से देर हो ही गयी है। कह दूंगा कि आम थी, बस नहीं

२३

गिनी थी, एग्ज़ॉस्ट हो गया था। अनेक बहाने हैं। हर रोज़ एक-एक को ध्यान से निकालो। ये समस्याएं हैं जिनको [illegible] में लाना पड़ता है।

बस में खिड़की के साथ वाली सीट ही मुझे मिल गयी है। बैठते ही खिड़की के शीशे पर मैं अपना माथा टिका देता हूं। गरम माथे पर ठंडा शीशा अच्छा लगता है। जैसे कोई गर्म माथे पर बर्फ की पट्टी रख रहा हो। कभी-कभी मैं 'लेडीज सीट' के ठीक पीछे वाली सीट पर बैठना भी पसन्द करता हूं। तब खिड़की के साथ वाली सीट न मिले तो और अच्छा। इतनी भीड़ में 'आइल' में खड़ी कोई महिला जब अपने आपको संभाल नहीं पाती तो सहज ही मेरे कंधे से सटकर खड़ी हो जाती है। उस समय भी मुझे वैसी ही शीतलता का आभास होता है जैसी उन ठंडे सींखचे के कारण। तब मैं चाहता हूं कि वह बराबर, वैसे ही सटकर मुझसे खड़ी रहे।

चलने से पहले बस ने ढेर सारा धुआं उगला है। पास से गुजरते स्कूटर-साइकल उस धुएं में डूब से गये हैं। मैं भी उस धुएं में जैसे डूब गया हूं। मेरे नथुनों में वह धुआं अटक गया है। मैं सहज ही रूमाल से अपनी नाक ढांप लेता हूं।

'हूरा फर्नीचर्स'। मैं सड़क के पार वाली दुकान का साइनबोर्ड पढ़ता हूँ। अब वह कई दिन से बन्द है। पहले वहां खूब जगमगाहट की गयी थी। चमचमाता फर्नीचर था। चाहे आप उसमें अपनी आकृति देख लें। ऐबनायड कलर। काली-काली झलक लिये हुए। या नेचुरल कलर, जिसमें पॉलिश का एहसास ही न हो। सन-माइका टॉप। टेबल पर टेबल-क्लॉथ की कोई जरूरत नहीं। केवल गीला कपड़ा लगाइए और सब साफ। मेरी पत्नी इस भुलावे में आ गयी थी। हम सनमाइका टॉप वाला डाइनिंग टेबल ही लेंगे, उसने कहा था। दूसरे दिन हमारे यहां

कोई मेहमान आ रहा था। "एक दिन के मेहमान के लिए यह सब !" मैंने कहा था। "और वह भी उधार पैसे मांग कर !" लेकिन हमने वह डाइनिंग टेबल तय कर ही लिया था। एक सौ सत्तर रुपये में। साथ में अट्ठारह-अट्ठारह रुपये की छः चेयर्स भी, और पेशगी में एक सौ रुपये दे दिये थे, बिना रसीद लिये। रसीद देने के नाम पर उसने खूब छाती बजाते हुए कहा था, "हम चोर नहीं हैं। विश्वास भी कोई चीज है।" विश्वास ! लेकिन वायदे के मुताबिक डाइनिंग टेबल अगले दिन नहीं पहुंचा था। उससे अगले दिन भी नहीं। और फिर मुझे लगा था कि विश्वास का जनाज़ा निकल रहा है !

धोखा ! धोखा ! धोखा ! लूट ! लूट ! लूट ! न जाने मुझे क्यों लगता है जैसे कहीं बवंडर उठने वाला है। रह-रहकर मेरी कनपटियां बज उठती हैं या बिजली की कौंद की तरह पीड़ा मेरी शिराओं में चमक उठती है। भागो, भागो, संकट के बादल, धूल से लदे हुए बादल, तुम्हारा पीछा कर रहे हैं, मेरे एक दोस्त ने कहा था। कहां भागें ? कहां जाएं ? मालिक मकान ने कहा था कि उसका मकान एक महीने तक खाली हो जाना चाहिए। एक महीने का नोटिस ! लेकिन एक महीना ऐसे ही बीत गया था। खूब भाग-दौड़ की थी। किराये सवा-डेढ़ गुने बढ़ गए हैं। सौ की बजाय डेढ़ सौ। डेढ़ सौ की सोचकर मेरी चमड़ी नुचने लगती है। नपी-तुली तनख्वाह में से पचास रुपये और ? ठीक करते हैं वे लोग जो न किराया देते हैं न मकान खाली करते हैं। विद्रोह ! विद्रोह ! इस वर्ग के प्रति विद्रोह ही करना होगा। एक दिन तो मुझे लगा था कि मेरे नीचे से धीरे-धीरे एक नया वर्ग उभर रहा है, उफनते उबाल की तरह, यानी 'नूवे-रिश' वर्ग—नव धनाढ्य ! वे लोग जिन्होंने किसी न किसी तरह पैसा बटोरने की कला सीख ली है। चाहे चिटफंड की कम्पनी खोलकर या इम्पोर्ट के लाइसेंस ब्लैक में बेचकर या ग्रामीणों को विदेशों के लिए जाली पासपोर्ट दिलवाकर।

ब्लैक ! ब्लैक ! ब्लैक ! सब तरफ ब्लैक ही ब्लैक है। अंधेरा !

संभव नहीं । स्कूल-कालेज बड़े महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों में पढ़ने की कोई जरूरत नहीं । केवल थोड़ा मन का मर्म बदलिए, या 'अन्तःकरण' को किसी गड्ढे में दफना दीजिए और फिर देखिए अपनी करामात का कमाल । इससे लिया, उसको दिया । थोड़े-थोड़े में ही एक दिन सब बंध जाएगा । 'हुलाहूप' की तरह । जिसका दायरा शरीर के चारों ओर घूमता है । पैसे का दायरा भी एक दिन ऐसे ही बंध जाता है, गोल-गोल, जो बना रहे तो बना रहे, टूटे तो एकदम टूट जाए, 'भन' से । अब यह आपकी मुस्तैदी पर निर्भर करता है कि उसमें से आप अपनी ओर कितना खींचते हैं । फिर समस्या तो यह होगी कि इतना पैसा आप खपाएं कहां । फिर आप उसे इधर-उधर डालेंगे । कुछ मकान खड़े करेंगे, हमारे जैसे गरिमा-ओढ़े कबूतरों को उन्हें मुहैया करने के लिए और कुछ बाजार में फेंकेंगे जिससे छोटे-छोटे दुकानदार हाथ बांधे आपके घर चक्कर लगाएंगे कि वे सब कुछ आपको घर पर ही सप्लाई कर देंगे । शराब की बोतलें, बर्फ, सोडा, भुना हुआ गोश्त, और......और...। और आप देखेंगे कि कुछ दिनों में आपके शरीर में नयी हड्डियां बनने लगी हैं और उन पर नया मांस चढ़ने लगा है । मैंने इस 'नूवे रिश' क्लास के सामने अपना माथा टेक दिया है । मैं गुलाम हूं, गुलाम हूं, तुम्हारा, और ताउम्र तुम्हारा गुलाम रहूंगा, यदि यह सिलसिला नहीं बदला तो ।

दफ्तर में चाहे सहमे-सहमे घुसता हूं लेकिन फिर भी भीतर-ही-भीतर मेरा अहम् उबाल खाता रहता है । शायद चपरासी बीड़ी पीते-पीते कुर्सी में अधलेटा-सा 'जयराम जी की' कर दे । कभी-कभी वह कर भी देता है। उस समय मेरे अहम् को बड़ी ढारस बंधती है । लेकिन बहुधा वह नहीं करता । बहुधा हमारा घण्टी बजाना भी बेकार ही जाता है !

चपरासी को खुश करने का मेरे पास एक ही तरीका है कि मैं हर महीने उसे कुछ इनाम देता रहूं । भला मेरे जैसे नॉन-गजेटिड, क्लास

टू 'ग्र-ग्रधिकारी' को उससे काम लेने का क्या ग्रधिकार ? इसलिए कुछ महीनों तक हमने यह तरीका भी ग्राजमाया। बड़ा कारगर साबित हुग्रा। फिर तो रोज सुबह सलाम। ग्रौर सीट पर बैठे नहीं कि ठंडा पानी हाजिर। ग्रौर चाय चाहिए या बैंक या डाकखाने में कोई काम हो, उसके लिए भी कोई झंझट नहीं। लेकिन जैसे ही एक महीने का छोर छूटता था ग्रौर दूसरे महीने का दिखने लगता था, उसकी चाल में सुस्ती ग्राने लगती थी ग्रौर महीने के ग्रन्त तक पहुँचते-पहुँचते वह सुस्ती 'टप्प' में बदल जाती थी। तब मुझे साफ पता चल जाता था कि मेरे पैसे का ग्रसर खत्म हो रहा है ग्रौर…।

घड़ी देखता हूँ। नौ बीस हो रहे हैं। साथी बताते हैं कि बॉस ग्रा चुका है। मुजरिम हूं। ग्रपने ग्राप ही सिर झुक जाता है ग्रौर उसी सिर-झुकी मुद्रा में मैं उसके केबिन की ग्रोर बढ़ता हूँ। धीरे से, बड़े संयत कर। उसके दरवाजे का हैंडल घुमाता हूँ, ग्रौर थोड़ा-सा दरवाजा खोल कर भीतर झांकता हू। चमचमाता पानी का गिलास उसके मुंह से लगा है ग्रौर वह गटर-गटर पानी पी रहा है। शायद ग्रभी-ग्रभी ग्राया है। इसीलिए सीट पर बैठते ही पानी की तलब होती है। उसके ग्राने से पहले पानी उसके टेबल पर न रखा हो तो चिल्ला पड़ता है। टेबल पर कपड़ा न लगा हो तो ग्रौर भी चिल्लाता है। "कैसे कोई काम कर सकता है ऐसे में ?" एक दिन वह कमरे में घुसते ही चपरासी पर बरसा था, "सुबह-सुबह तुम लोग मूड खराब कर देते हो ?" ग्रौर हम ? हारकर एक ग्रपना ही डस्टर रख छोड़ा है ग्रौर पहला काम सुबह ग्राते ही हाजिरी लगाने के बाद टेबल की सफाई करना होता है। हमारा पानी वाला गिलास भी चमचमाता नहीं है। बहुधा उसके तले में पिछले दिन का पानी पड़ा-पड़ा ही सड़ता रहता है जिससे कि उसकी सतह निहायत धुंधली हो गयी है।

साहब पानी पी चुकते हैं तो एकाएक ग्रधखुले दरवाजे की तरफ

देखते हैं। मैं थोड़ा रुकते ही लगभग भीतर हो लेता हूं और आदर-भरी 'गुडमार्निंग सर' कहता हूं। साहब का थोड़ा-सा सिर हिलता है। मैं उस लम्हे का फायदा उठा कर झट कहता हूं, 'सॉरी सर, गॉट लेट!' लेकिन साहब कुछ नहीं कहते। केवल एक बार तीखेपन से मेरी ओर देख भर लेते हैं। मैं झट से रजिस्टर खोल उसमें अपनी हाजिरी लगा देता हूं और इससे पेशतर कि वह कुछ मांगें, मैं उनके केबिन से बाहर हो लेता हूं और सीधा अपनी सीट में जा बैठता हूं।

सीट में आकर बैठता हूं तो चाहता हूं कि दो मिनट आंखें बन्द करके सांस ले लूं, लेकिन इतने में ही चपरासी आता है कि साहब ने याद किया है। साहब ने याद किया है? झुनझुनी-सी होती है। कुछ अनमना-सा सीट से उठता हूं और साहब के केबिन की ओर बढ़ता हूं। और फिर धीरे से दरवाज़ा खोल कर उसके भीतर। साहब छूटते ही पूछते हैं कि मैंने कल वाला काम ख़त्म किया है कि नहीं। मुझे याद है, कल मुझे काम देने के बाद वह थोड़ी-थोड़ी देर बाद इसके बारे में पूछते रहे थे, जबकि वह जानते हैं कि आज शाम से पहले वह किसी हालत में पूरा नहीं हो सकता। "कल शाम तक यह पूरा हो जाना चाहिए," उन्होंने स्वयम् ही इसे सौंपते समय कहा था और अब फिर बार-बार की यह पुछवाई! इसको सौंपते समय उन्होंने कहा था कि इसे 'टॉप प्रायरटी' देनी है। इससे पहले भी एक काम सौंपते समय उन्होंने 'टॉप प्रायरटी' कहा था। "तो पहले मैं कौन-सा करूं?" मैंने यों ही कह दिया था, और उन्होंने समझा था कि मैं ज़िरह कर रहा हूं, और फिर उन्होंने इसके बारे में बड़े साहब के कान में कुछ डाल दिया था।

साहब के केबिन से बाहर निकलता हूं तो कोई अपरिचित उनके केबिन में दाखिल होता है। मैं सीट में आकर धम से बैठ जाता हूं और आंखें बन्द करके सुस्ता लेना चाहता हूं। लेकिन सुनता हूं कि वह चपरासी को कह रहे हैं कि फौरन चाय चाहिए और एक पैकेट सिगरेट भी, और सुनो, वह कहते हैं, पान भी लेते आना। इतने में सुनता हूं कि टेलिफोन

की घण्टी बजती है, ट्रिन-ट्रिन...ट्रिन-ट्रिन, और फिर, कहिए साहब, मिजाज कैसे हैं और फिर ठहाका...ठहाके...ठहाके...और ठहाके...!

इन ठहाकों को मेरे साथियों ने भी सुना है और वे चुपके से अपनी सीट छोड़ कर मेरे चारों ओर आ जुटते हैं। "क्यों दोस्त, क्या बात है? तुम क्यों उदास हो?" और फिर वे भी एक ठहाका लगाते हैं, लेकिन कुछ दबा हुआ, ताकि उनका ठहाका कहीं साहब के ठहाकों को मात न कर जाए। शायद उन्होंने साहब की नकल ही लगायी है, क्योंकि वे ऐसे ठहाके नहीं लगा सकते जिससे दरो-दीवार हिल जाए, जिससे ऐसा लगे कि भूकम्प आ गया है। और फिर जब वे धीरे से पूछते हैं कि साहब ने सुबह-सुबह क्या फरमान जारी किया है, तो मैं कहता हूं, काम! काम! काम! और काम! "कौन काम करता है सरकारी दफ्तरों में?" एक साथी कहता है, "काम करना था तो सरकारी नौकरी ही करनी थी...? ठहाके लगाओ...हा-हा-हा-हा-हो-हो-हो-हो।...।" और हम सब एक जोर का ठहाका लगाते हैं जिससे दरो-दीवार हिल जाएं, जिससे भूकम्प आ जाए।

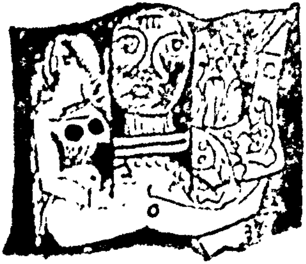

पहला दिन

"पास !"

फाटक पर संतरी रोकता है ।

मैं यहीं काम करता हूँ, वह धीरे से कहता है, क्योंकि वह समझता है कि उसके शब्द पास का ही काम करेंगे ।

संतरी नहीं मानता । वह उत्तर चाहता है कि उसके पास 'पास' है कि नहीं ।

"नहीं," वह दयनीय भाव से उसकी ओर देखता है, लेकिन उसे बता नहीं पाता कि उसके पास 'पास' क्यों नहीं है । क्या कहे कि अपने यहाँ के बाबुओं से रोज़-रोज़ याचना करते वह थक गया है और वे अपना समय लेकर ही कुछ करेंगे ?

नहीं कह पाता । केवल इतना कह पाता है कि भई, बन जाएगा । अभी दिल्ली आये थोड़े दिन ही तो हुए हैं ।

संतरी उस पर विश्वास कर लेता है और वह तेज़ कदमों से इमारत की ओर लपकता है ।

लिफ्ट !

वहीं वह लिफ्ट पर चढ़ने वालों की पंक्ति काटकर अपने कमरे की ओर बढ़ता है। लिफ्ट के इन्तजार में और समय लग सकता है।

दफ्तर अभी सुनसान पड़ा है। उसके दूसरे साथी अभी नहीं आये हैं। समय पर यहाँ कोई नहीं आता। किन्तु एक दिन वह देर से आया था तो बॉस सब कैबिनों के दरवाजे खोल-खोल कर देख रहा था।

उसके मन में कुछ रंज होता है। जल्दी हो भी तो कैसे व्यक्त कर सकता है ?

अपनी कैबिन में घुसता है और ज़ोर से उसका दरवाजा बन्द करता है ताकि बॉस यदि हो तो उसे पता चल जाए कि वह आ गया है।

हाँ, आ गया है वह, लेकिन उसकी मेज़ को किसी ने पोंछा नहीं। जगह-जगह चाय के प्यालों के निशान लगे हैं। कहीं-कहीं धूल भी अटी पड़ी है।

झुक कर पंखा खोलना चाहता है, लेकिन पंखा बन्द ही रहना चाहता है। फिर कोशिश करता है। स्विच को इधर-उधर पूरा घुमाता है, लेकिन पंखे में कोई हरकत नहीं होती। पंखे की तार के साथ टेबल लैम्प की तार भी जुड़ी हुई है। इसीलिए पंखा नहीं चलता तो लैम्प भी नहीं जल रहा।

कैबिन के धुंधले शीशे में से बाहर बैठे चपरासी का साया-सा दिखता है। शायद उसकी सहायता से पंखा चल पड़े। घंटी बजाता है। लेकिन उस साये में कोई हरकत नहीं होती। फिर बजाता है। इस बार साया थोड़ा हिला है लेकिन फिर स्थिर हो गया है। अब देखता है कि उस साये के पास एक और साया भी है। फिर ज़ोर से घंटी का बटन दबाता है। घंटी टुन-टुन बजती है, लेकिन साये आपस में ऐसे गुत्थे पड़े हैं जैसे एकरूप हो गये हों।

उठता है और उठकर बाहर आता है। साये एकाएक लोप हो गये हैं। बाहर कोई चपरासी नहीं। इधर-उधर नजर दौड़ाता है

लेकिन चपरासी नज़र नहीं आता। एकाएक [illegible] हुआ उठता है वह, और उसी सिलसिले में कमरे से बाहर आता है। देखता है, दरवाजे के पास दोनों चपरासी खड़े बीड़ी पी रहे हैं और [illegible] भी ले रहे हैं।

कुछ नहीं बोल पाता उनसे, और वैसे ही अन्दर चला आता है। चपरासी भी उसके पीछे-पीछे भागे चले आ रहे हैं। क्यों? देखता है कि साहब दरवाजे तक आ पहुँचे हैं।

तपाक से सावधान होकर दोनों चपरासी साहब को 'सेल्यूट' मारते हैं और साथ में वह भी उनको 'विश' करता है और साहब अपने कमरे की ओर, उसकी ओर किंचित देखते हुए, निकल जाते हैं।

साहब निकल गये हैं और दोनों चपरासी उठकर पैसेज में रखी अपनी-अपनी कुर्सियों पर बैठ गए हैं। उनकी बीड़ियाँ भी जाने कहाँ से फिर प्रकट हो गयी हैं।

"भई, जरा मेरे पंखे को तो देख दो", वह मिन्नत से कहता है।

चपरासी एक क्षण के लिए उसकी ओर देखते हैं, लेकिन उत्तर देना उचित नहीं समझते। वह फिर अनुरोध-भरे स्वर में कहता है। इस बार उत्तर तुरन्त आता है: "आप 'डीलिंग क्लार्क' से कहिए। वह बिजली वाले को फोन कर देगा।"

डीलिंग क्लार्क! हाँ, उसे उसी को कहना चाहिए था। उसे अपनी भूल पर अफसोस होता है और वह प्रशासनिक कक्ष (ऐडमिनिस्ट्रेशन सेक्शन) की ओर बढ़ जाता है।

"गुडमार्निंग, फ्रेंड," वह उसे सम्बोधित करते हुए कहता है, "मेरा पंखा काम नहीं कर रहा।"

डीलिंग क्लार्क का मूड जैसे भंग हो गया है। वह आराम की मुद्रा में अपनी कुर्सी पर अधलेटा-सा हुआ, कुछ-कुछ आँखें बन्द किए, सिगरेट का आनन्द ले रहा है, वह आँखें खोलता तो है किंतु अपने बिखरते आनन्द को समेटते हुए कहता है: "बादशाओ, अभी आकर बैठा ही हूँ। जरा साँस तो ले लेने दिया होता।"

वह कहता है, "भई, गरमी का मौसम है, इसलिए मेरे लिए वहाँ बैठना बहुत मुश्किल है। आप किसी को मेहरबानी करके बोल दीजिए।"

पास में कार्यालय अध्यक्ष महोदय भी सुन रहे हैं। उनको भी शायद उसकी बात नागवारा गुजरती है। "भैया, ये टैक्नीकल लोग तो कभी चैन नहीं लेने देते," वह झुंझलाहट में कहते हैं। "कभी पंखा नहीं चलता। कभी गेट पास चाहिए। कभी सी० एच० एस० का कार्ड तुरन्त बनवा दो। कभी हाउस अलॉटमेंट के फार्म चाहिए—अभी आए दस रोज हुए नहीं और रोज़-रोज़ का तकाजा!"

उसे इतने लम्बे उत्तर की अपेक्षा न थी। उसका धीरज जैसे टूटने को होता है, लेकिन वह उसे टूटने नहीं देता। "हाँ, मैंने आपको अपनी सर्विस बुक तथा एल० पी० सी० मंगवा लेने को भी कहा था। यदि आप मेरे पुराने दफ्तर से जल्दी मगवा लेंगे तो मुझे भी तनख्वाह मिल जाएगी। आज पन्द्रह तारीख होने को है।"

"कैसे सभव है इतनी जल्दी सब कुछ?" वह बड़बड़ा उठते हैं, "मेरी अपनी एल० पी० सी० तीन महीने में आयी थी। सर्विस बुक को आने में डेढ़ साल लगा था, और..." वह बहुत कुछ कहना चाह रहे हैं, लेकिन उनकी बात बीच में ही रह जाती है, क्योंकि बड़े साहब ने उसे पेश होने को कहा है।

"गुडमॉर्निंग, सर", वह साहब को फिर 'विश' करता है, और कुर्सी पर उनके सामने बैठ जाता है।

साहब जानना चाहते हैं कि उसे कोई तकलीफ तो नहीं है।

तक़लीफ?

नहीं उसे कोई तकलीफ नहीं है। "आ'एम पर्फेक्टली ऐट ईज़ सर," वह कह देता है, लेकिन उसके भीतर जबरदस्त कसमकश होने लगी है। क्या वह अपने भाव व्यक्त कर दे? उसे कठिन अभिनय करना पड़ रहा है।

साहब चाहते हैं कि यदि उसे कुछ तकलीफ नहीं है तो वह डटकर

काम करे, क्योंकि उसे बहुत 'पुलिंग' 'अफसर' करते हैं। छः महीने से उनके पास उसके स्थान पर कोई आदमी नहीं था।

हाँ, वह डटकर काम करेगा, जरूर करेगा, वह उनको आश्वासन देता है। लेकिन···वह आगे कह नहीं पाता। शिकायत करेंगे तो और परेशान हो जायेंगे, उसे एक साथी की शिकायत याद आती है। लोग बात-बात पर बदले लेंगे। दफ्तर में घुसना हराम कर देंगे !

शीला ने जैसे उसे अपने वशीभूत कर लिया है। नहीं, नहीं, वह बोलेगा, जरूर बोलेगा। वह मन ही मन कुछ प्रसन्न होता है। लेकिन फिर भी मुंह से शब्द नहीं निकालता और धीरे से उठ आता है।

बाहर आता है तो देखता है कि दोनों चपरासी अपनी-अपनी कुर्सियों में ऊंघ रहे हैं। क्या जगाये उनको ? नहीं-नहीं, सोने दो, सोने दो, इनको। उसे इनसे कुछ लेना-देना नहीं।

वह अपनी कैबिन का दरवाजा खोलता है और अनमना-सा अपनी सीट पर बैठ जाता है। उसके पीछे-पीछे उसका साथी भी आ पहुँचा है और किंचित मुस्कराकर अपनी सीट की ओर बढ़ जाता है। उसके हाथ में एक भरी हुई बोतल भी है।

"क्यों, पंखा काम नहीं कर रहा ?" वह अपने माथे का पसीना पोंछते हुए पूछता है।

उत्तर में वह थोड़ा मुस्करा भर देता है।

साथी अपनी बोतल का ढक्कन खोलता है और उसको गिलास में उंडेलने लगता है। फिर स्वयं ही स्पष्टीकरण में कहता है कि वह बोतल में उबला हुआ पानी लाया है क्योंकि बाढ़ के कारण नलों में गंदा पानी होने से कई संक्रामक रोगों के होने की संभावना है।

साथी ठीक ही कहता है। प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन के प्रति ऐसा ही मोह होना चाहिए।

"तुम क्यों नहीं एक नोट लिखते कि दफ्तर में उबला हुआ पानी

सप्लाई हो ?" साथी उसे सुझाव देता है, "तुम नोट लिखो और मैं भी उस पर सिगनेचर कर दूंगा।"

वह थोड़ा हँसकर बात को टाल देता है और मनाता है कि उसकी बेजान लैम्प मे जान आ जाए।

उसका साथी अपनी जेब से एक बीड़ी निकालता है और ज़रा ओट करके उसे सुलगाता है। कैबिन में बीड़ी का धुआँ कुछ अजब-सी घुटन भर देता है।

क्या करे वह ? कैसे करे वह ? वह अपनी उधेड़-बुन मे लगा रहता है।

उसके साथी का स्वर उसके कानों से फिर टकराता है। "जानते हो मैं बीड़ी क्यों पीता हू ?" वह कहता है।

नहीं, वह इस बारे मे कुछ भी नही जानता, किन्तु इतना भर जानता है कि अब वह 'डीयरनेस अलाउंस' के बारे में कुछ कह रहा है। वह कह रहा है कि हमको सरकार की नीति का विरोध करना चाहिए, क्योंकि 'रिलीफ' तुरन्त न मिलकर यदि छ: मास के बाद मिला तो वह अर्थहीन होगा। महँगाई देखो किस कदर बढ गयी है। ऐसा 'क्राइसिस' पहले कभी नही हुआ। इतिहास देखो, क्रान्ति होने से पहले प्रायः ऐसी स्थिति ही उत्पन्न हुई है।

उसका साथी एक साँस मे ही बहुत कुछ कह गया है। लेकिन 'क्राइसिस' शब्द उसे काफी छू गया है, और वह सहज ही कह उठता है—हाँ, क्राइसिस ऑव फेथ ! क्राइसिस ऑव फेथ।—जब व्यक्ति को व्यक्ति के प्रति विश्वास नही रहता, जब विश्वास की जड़ें खोखली हो जाती हैं, जब सब अविश्वास की घुटन मे घुटते रहते है !

इसी बीच उसका साथी उठा है और उठकर कहीं चला गया है। वह चाहता है कि वह कुछ काम करे लेकिन बिना 'प्रकाश' तथा 'हवा' के कुछ भी करने को मन नही होता, और ऐसे ही हाथ पर हाथ धरे वह

बैठा रहता है। हाँ, यह '[illegible]' ही है, वह एक बार फिर अपने मन ही मन हँसता है।

साथी उसका लौट आया है। वह कह रहा है कि अब हमारी 'वर्किंग कंडीशन्स' इतनी 'पुअर' है कि हमसे काम की कोई क्या उम्मीद कर सकता है। वह कह रहा है कि पंखा न चलने के कारण उसका 'मूड' खराब हो गया है। वह फिर कहता है कि रात भर उसको नींद नहीं आयी, इसलिए उसकी आँखें पीली रही हैं। वह फिर कहता है कि एक 'डेंटल सर्जन' से उसकी 'अपॉइण्टमेंट' है और उसे अपने दाँत दिखाने जाना है।

उसका साथी कुछ न कुछ कहे जाता है। वह कहता है कि सेक्स का अर्थ आदमी और औरत के लिए अलग अलग है। वह कहता है कि औरत की 'सेक्सुअल इम्पल्स' प्यार से अलग नहीं की जा सकती, जबकि आदमी की 'प्योरली सेक्सुअल' भी हो सकती है। वह कहता है कि महंगाई भत्ता यदि समय पर न बढ़ाया गया तो चपरासी-क्लार्क भूखे मर जाएंगे। वह कहता है कि हमारी शिक्षा प्रणाली विज्ञानोन्मुख होनी चाहिए। वह कहता है कि हमारे देश का आयोजन···

सुनते-सुनते एकाएक उसके कान बन्द हो गये हैं, और वह सुन नहीं पाता तो उसका साथी थोड़ी देर के लिए फिर बाहर चला जाता है और फिर लौट आता है!

ऐसे ही उसके साथी ने बाहर-भीतर पचास चक्कर लगाये हैं और अब शाम होने को आयी है।

वह भी आज दिन भर हाथ पर हाथ धरे बैठा रहा है। शायद कल भी बैठा रहेगा, शायद परसों भी, शायद···।

अब दोनों बार-बार घड़ी की तरफ देखते हैं और एक-दूसरे की तरफ भी, और देख-देखकर मुस्कराते हैं।

हाँ, वे बार-बार घड़ी की तरफ देखते हैं कि कब पाँच बजें और कब वे वहाँ से उठें!

नयी सुबह और मेरी पत्नी

लगता है हमारा सम्बन्ध कच्चे डोरे से बंधा हुआ है। जरा-सा झटका लगा नहीं कि टूटा सो टूटा। वैसे भी अब तो कई बार वह आत्म-हत्या कर लेने पर उतारू हो जाती है, हां आत्म-हत्या। इससे मैं कितना घबरा उठा हूं। तभी मैंने अपनी सास को तार देकर बुलाया है कि वह आये और अपनी लाडली बेटी के बारे में कुछ निबटारा कर जाए। अब मैं और सहन नहीं कर सकता......प्रातः साढे चार बजे की गाडी से मेरी सास आ रही है, प्रात. साढ़े चार बजे। मैं सब उसे साफ-साफ कह दूंगा। अब बात होनी ही है तो या इधर हो या उधर। दो साल में मैंने बहुत कुछ देख लिया है।

इस वक्त रात के तीन बजे हैं। गाड़ी साढे चार बजे आयेगी। मेरी कलाई पर बंधी घड़ी कितनी अच्छी है। अन्धेरे में भी टाइम बता देती है। अभी थोड़े दिन ही हुए मेरे ससुर ने भिजवायी थी। तीन बजे उठना भी क्या मुसीबत है। आखें जलने लगती हैं। पर आज मुझे सारी रात नींद आयी ही नहीं। पत्नी मेरी बगल में ही सो रही है। मोनी हमेशा

मेरी बगल में ही है। रात भी मुझसे लड़ कर सोयी थी। रात के तीन बजे क्या वह उठेगी? तोबा! तोबा! सुबह सात बजे सूरज जब सिर पर होगा तब कहीं उठे तो गनीमत। आलसी नहीं तो हुई। मनोवैज्ञानिक तभी तो कहते हैं कि आलसियों की संतान कुछ पागल ही ढंग की होती है। उठेगी भी तो मरी-मरी-सी, जैसे शरीर में प्राण हों ही नहीं। हां, शरीर में प्राण डालना चाहते हों तो रेडियो पर संगीत लगा दीजिए।

ओह, कितनी घुटन है मेरे मन में! आज हवा को भी जाने क्या हो गया है। यहां की बस यही बुराई है। गरमी के मौसम में और गरमी होगी। चारों ओर पत्थर ही पत्थर तो हैं। रात को ऐसी आग उगलते हैं कि तोबा भली। ज्वालामुखी इसी को तो कहते हैं। चौकीदार भी आज परेशान दिखता है। बेचारे को गेट के पास ही सोना पड़ता है, चाहे गरमी हो या सरदी।

बाजार इस समय कितना सुनसान पड़ा है। वेश्याएं सब धुत्त सोयी पड़ी होंगी। हमारे मुहल्ले का यही तो कलंक है। शाम को कहीं कोई घर की औरत निकले तो घूरने वाले घूर-घूर कर उसे आंखों से ही निगल जाएं। वैसे तो यह चलता बाजार है। कोई वारदात कम ही सुनने को मिलती है। वैसे भी बिल्डिंग का गेट बन्द हो जाए तो हमारा दुनिया से कोई वास्ता ही नहीं रहता। दादा साहब, सुना है, इनके पास जाता है। जाएगा क्यों नहीं? पत्नी ने जो धोखा दिया! दस बच्चों का बाप बना कर छोड़ चल बसी।......लाला जी का तो सुना है गुजर ही इन्हीं के सहारे होता है। चार-चार नौकर रखे हुए हैं उसकी बीवी ने। रखेगी क्यों नहीं? अपने पति की कमाई है। खूब खिलाती है अपने नौकरों को। उनका काम भी कभी-कभी खुद ही कर लेती है। चलो, बेचारे अपने भाग्य का खाते हैं, हमें क्या! 'सह-अस्तित्व' इसी को तो कहते हैं। घर की सफाई नहीं होती तो न सही, पुताई नहीं होती तो न

रहो। पर घर में सफाई हो भी किस की ? सड़ी-गली दो-एक चारपाइयों की ? जी हाँ, यह लाला जी का घर है, किसी बाबू-साहब का थोड़े ही है। पढ़े-लिखे लोग 'कल्चर' का नारा लगाते हैं तो लगाया करें... मैंने अपनी पत्नी से कई बार कहा है कि इससे ज्यादा मेल-जोल न बढ़ाये। लेकिन वह माने तब तो ! जब देखो उसी के पास। मीठे जहर का क्या कभी किसी को पता चला है ? जब हाथ लगेंगे पछताएगी। पर पछताएगी क्या ? उसने यह सब सोचा ही नहीं। एक बार मन पर जो सवार हो गया सो हो गया। जिसे बहन कह दिया सो बहन है। मैं क्या जानू औरत के मन को ? उसकी आँखों से देखूं तब तो। सहज भाव भी कुछ चीज है। हाँ, बेचारी कितनी दुःखी है ! पति उसकी जूती से भी परवाह नहीं करता। कहने को तो बच्चों की माँ है। रात को कभी घर लौटता ही नहीं। और यदि कभी आ भी गया तो शराब में धुत। बेचारी रात-रात भर पड़ी उसकी राह देखती रहती है। कभी अपना मतलब होता है तो बात कर ली, वरना जय रामजी की। तभी तो उसका दिल बुझा रहता है। नहीं तो जहाँ चार नौकर हैं वहाँ क्या सार-सम्भाल नहीं हो सकती थी ? दो-एक कुर्सियों की ही तो बात है। पति को तो बस बच्चे पैदा करने की खबर है, पालने को वह जो है। बेचारी ने ऑपरेशन करवाना चाहा तब भी उसने रजामन्दी नहीं दी। आदमी सब ऐसे ही होते हैं। कहता है पहली औरतें भी थीं जो पूरा दर्जन जनती थीं......अभी जोड़े जने थे, अब फिर मुसीबत तैयार है।

मुकुन्द की कभी-कभी सुनो तो मजा आ जाता है। वह वेश्याओं के ऐन पड़ोस में रह चुका है। एक दफा की बात सुना रहा था। रात के ग्यारह बजे होंगे। उन दिनों ग्यारह बजे बाजार बन्द नहीं होता था। जोरों का कोहराम सुन पड़ा। वह दौड़ा-दौड़ा बाहर आया। देखा तो एक आदमी हाय-तोबा मचा रहा था। वेश्या ने फिजूल में ही कह दिया था कि उसे बीमारी है। उसे कहा बीमारी है ? खलीफा चाहे तो अपनी आँखों से देख ले। खलीफा ने अपनी आँखों से देखना चाहा। खलीफा को तो

गया, पास में खड़े दूसरे लोगों को भी दिखाने में उसे रत्ती भर भी संकोच न हुआ। और जिस्म भी तो उसी की हुई। वेश्या को मजबूर होकर उसे 'लेना' पड़ा। कुछ ही देर बाद वह कोठे से उतर आया। उसका बोझ हल्का हो चुका था। सुरेश ठीक ही कहता है—वेश्याओं के पास ऐसे ही लोग जाते हैं। जिन्हें मैथुन-तृप्ति करनी है वे आत्म-विवाह करें!

वेश्याएं शायद सब सोई पड़ी होंगी। कहीं जरा-सी भी आहट नहीं है। ग्यारह बजे मंजरियों की सीटियां बजी नहीं और इनके दरवाजे बन्द हुए नहीं। फिर न नाच, न गाना। बेचारी करें भी तो क्या करें! शेरछाप बीड़ी न पीएं तो क्या ब्लैक-एण्ड-व्हाइट सिगरेट पीएं! फिर सरकार भी तो इनके पीछे कैसे हाथ धोकर पड़ी है। खासकर इन समाज कल्याण वालों ने तो इनकी नाक में दम ही कर दिया है। बताइए जनाब, क्या आप अपनी जिन्दगी का हर राज खोलने को तैयार हैं? यदि हां, तो ठीक है, वरना इन्हीं बेचारियों को ही क्यों कुरेदा जाता है? भीष्म भाई ठीक ही कहता था—सरकार अब किसी को धन्धे के नाम पर धंधा नहीं करने देगी। 'वेश्यायी' करनी है तो किसी सोसाइटी में मिक्स करो, किसी संगम का अंग बनो। बरट्रेंड रसल, बेचारा देखो, कितना दयावान था! कहता है कि वेश्याओं का अस्तित्व क्यों मिटाते हो? वे तो समाज का 'सेफटी वॉल्व' हैं।

टांगा! टांगा! रात के सन्नाटे में अपनी आवाज़ भी कैसी भुतवा-सी सुन पड़ती है! वह टांगा खाली दिखता है। यहां बलदेव बैंक के पास खड़ा हो जाऊं। यहीं से गुजरेगा। जयाजी महाराज भी अमर हो गए। वह सामने बुत उन्हीं का है। सत्ताशील व्यक्ति हमेशा अमर होता है। इनके राज्य का विस्तार भी कहां-कहां तक था। कहाँ भिंड और कहाँ धार! सुना है डाकू समस्या कोई खत्म कर सकता था तो यही लोग कर सकते थे। माधो महाराज ने सब डाकुओं का एक सम्मेलन बुलवाया।

है न मजे की बात ! फिर जिस-जिस की जो शिकायत थी उसको रफा किया। किसी को अनुदान दिया, किसी को नौकरी दी, और जिसने उनकी न मानी उसको चुनौती दे दी। यह बलदेव बैंक भी शायद उन्हीं का बनवाया हुआ है। उन्होंने न बनवाया होगा तो उनके किसी वशज ने बनवाया होगा। कभी आप इस बैंक के पिछवाड़े में गए हैं ? यह देखिए, खस लगे झरोखों में कितनी प्रकार के भिखारी पड़े हैं। भिखारी जो कोढ़ी हैं, भिखारी जो अपाहिज हैं, भिखारी जो पागल हैं, औरत, मर्द, जवान, बूढ़े। जयाजी महाराज के बुत के पास आइए तो वहां आपको पटरी पर एक साधु बाबा पड़े मिलेंगे। पड़े रहते हैं बस वहीं पर, दिन-रात, न उन्हें खाने की चिन्ता है, न पहनने की। किसी ने खिलाना हुआ तो खिला दिया, नहीं तो पड़े हैं वहीं पर। बाबाजी, क्या आप अपनी हाजत भी यहीं पूरा करते हैं ? करते होंगे, मुझे क्या ? और वह करें भी तो क्या करें ? दिन में तो जब देखो लोग उन्हें एक मिनट भी आराम नहीं लेने देते। कोई बैठा हाथ दबाता है और कोई पांव। ऐसे साईं बाबा बड़े पहुंचे हुए होते हैं—जो भी उनके मुँह से निकल जाए, बस ब्रह्म-वाक्य ही समझो। तभी तो कुछ लोगों ने इनका मांस-मदिरा से भी सेवन करना शुरू कर दिया था। ठीक भी तो है, जितना गुड़, उतना मीठा। फिर बाबा ठहरे, क्यों इन्कार करने लगे ? कंचन, कामिनी की कभी कामना की तो नहीं, लेकिन यदि कोई भक्त अर्पित कर दे तो वह उसे अस्वीकार भी कैसे करें। इसी पर सुना था इन्हें थोड़े दिन हवालात की हवा खानी पड़ गयी।

यह तांगा यदि इसी रफ्तार से चलता रहा तो लगता है मैं कभी भी समय पर पहुँच नहीं पाऊंगा। स्टेशन यहां से कम से कम पांच-छः मील होगा। बीस-एक मिनट तो यों ही लग जाते हैं। इस वक्त चार बजकर पांच मिनट हो रहे हैं। भला हो मेरे ससुर का जो इतनी एक्यूरेट घड़ी

दी है। पर अपनी बेटी को भी इतना ही एक्यूरेट बनाया होता तब तो बात थी न ? ये लोग सोचते हैं, रुपया ठूंस देने से किसी का भी मुंह बन्द हो सकता है । मेरे अरमानों को आग लगानेवाले मेरे मां-बाप अब कहां हैं ? सब सुख-चैन की नींद सो रहे हैं। जलने को मैं जो हूं। देखा, मुझे कैसा जीवन-साथी मिला है ? जीवन-साथी ! कुछ दिन और साथ-साथ रहे तो लुटिया डूबी समझो । वाह री धर्मपत्नी ! सप्तपदी की महत्ता का अब पता चला है । अभी क्या, अभी तो आगे-आगे देखो । कपड़े धोने से इसके हाथ छिलते हैं, रसोई का धुआं इसकी सांस रोकता है । बस लेटने को कहिये, सारा दिन उठ भी जाए तो मेरा नाम बदल दीजिये । और बीच में यदि जगा दो तो सारे दिन की किचकिच । सोने दो, सोने दो इसे । स्वास्थ्य खराब नहीं होगा तो क्या होगा ? सिर में दर्द नहीं होगा तो क्या होगा ? श्रीमतीजी, जरा उठिए । अपनी साइकॉलोजी बदलिए, दुःख-तकलीफ खुद-ब-खुद भाग जाएंगे । लेकिन भई, अठारह वर्ष के संस्कार हैं, दो वर्ष में कैसे बदल सकते हैं । हां, झीनी से झीनी नाइलोन की साड़ी कहिए, पहनेंगी, सिनेमा देखने को कहिए, देखेंगी, चाहे मिड-नाइट शो ही क्यों न हो । श्रीमतीजी की किसी रईस से शादी होनी चाहिए थी । होंठ हिलाए नहीं कि जो हुक्म सरकार । मैं तीन सौ रुपल्ली पाने वाला एक अदना-सा आदमी ! कैसे निभे इन दोनों की आपस में ?

भाई तांगेवाले, ज़रा जल्दी करो। गाड़ी आने में केवल दस मिनट रह गए हैं। बस यह पुल पार कर लो और स्टेशन आ गया !

यह लड़की भी ठीक मेरी पत्नी जैसी है । वही तरुणाई, वही निखार ! क्या वह ही तो नहीं कहीं पहुंच गयी ? कुछ पता नहीं उसके दिमाग का । बस ज़रा-सी सनक उठने की देर है······नहीं, वह नहीं है ।

यह उसमे जरा कुछ भारी है। औरत चाहिए भी जरा भारी। इलाचन्द्र जोशी को ऐसी ही किसी रमणी ने प्रभावित किया होगा। तभी तो उन्होंने, 'रेत की रात' लिख डाली। पर मेरी पत्नी के चेहरे पर जो ल्नाई है, किसी-किसी को ही नसीब होती है। शुरू-शुरू में तो वह रंगत थी कि देखनेवाले की आँखें भक रह जाती थी। तभी तो मैं उसको कहता था कि भड़कीले कपड़े मत पहना करो। उसको घूरते हुए लोगों को मैं सहन नहीं कर सकता था। उस दिन बाजार में, वह बदमाश, देखकर जांघ बजाता था। दिल होता था कि उसकी जांघ ही चीर डालूं। फ्रॉयड होता तो इसका अर्थ कुछ और लगाता। प्रभाकरजी का मत है कि हमें अपनी आचार-संहिता का मूलत: संशोधन करना होगा। मेरा मत है कि हमें आँखें मूंद कर चलना होगा। किस-किस से जान भिड़ाएंगे। बस आंखें मूंदे रहिये, जब तक कि कोई खास जोर की ही न करे।

गाड़ी अब ख्वाहमख्वाह की देर किए जा रही है। आता है तो आए। दस मिनट तो पहले ही लेट हो चुकी है। आज सारी रात ऐसे ही बीत गयी। सिगरेट पी लूं? नहीं, पत्नी सूंघ लेगी। सिगरेट से कितनी चिढ़ है उसे! छी, यह भी कोई पीने की चीज है! वाकई, अब तो मुझे स्वयं को ही इससे मतली होने को आती है। और प्यार जब करती है तो विभोर कर देती है। किसी की है मजाल जो मेरे खिलाफ एक शब्द भी कह जाए। उस दिन बिल्डिंग में उस प्रो० एम० डी० महोदय को ऐसी सुनायी थीं कि बेटा सिट्टी भूल गया था। मौके पर इसे सूझती भी ऐसी है कि दंग रह जाना पड़ता है। माताजी मेरी ठीक कहती थी, जरा समझ से काम ले तो इस जैसा कौन हो सकता है। इकलौती संतान है, इसलिए मुंहजोर है। वैसे दो साल होते भी क्या हैं? खेल-कूद में ही बीत जाते हैं। मौसी कहती थी औरतें गऊ होती हैं, जैसे रखो रहती हैं। है मुझ में भी दरअसल एक भारी नुक्स। सारी दुनिया को चाहता हूं कि मेरी जैसी हो जाए। लगता है पुस्तकों ने मुझे धोखा दिया, वरना

क्या यह ठीक नहीं है कि शादी से पहले मेरी पत्नी को अपने में सेक्स का आभास हुआ ही न हो, कि शरीर व मन, दोनों से अतृप्त होते हुए भी भारतीय नारी अपना सतीत्व बनाए रखती है ?

कितने बजे हैं ? पौने पांच ? अब गाड़ी शायद आ रही है। वह सामने लाइट जली की है। ओ, मेरा दिल कितना धक-धक करने लगा है !······रात को मेरी पत्नी रोती-रोती सोयी थी। मेरी सास भी शायद रो रही होगी। क्यों, रोएगी क्यों ? हां, रोएगी। उसकी संतान बीमार जो है। बीमार है ? हां, तार में मैंने यही लिखा था। और मेरे पास बहाना भी क्या था ? कैसी है मेरी बेटी ? पहला प्रश्न उसका यही होगा। वह जानने को बहुत आतुर होगी। कहीं मैंने······? हां, उसे यह आशंका भी हो सकती है। आजकल सब कुछ संभव है।

कितना भारी इंजन है ! धमाके से सारा स्टेशन कांप उठा है। थर्ड क्लास। थर्ड, थर्ड ! अरे भाई ध्यान से चलो, अभी ट्रंक से मेरा सिर फोड़ दिया होता। गाड़ी चढ़ते समय लोग जाने इतना घबड़ा क्यों उठते हैं ! फर्स्ट, फर्स्ट ! डायनिंग कार ! जाने सैकिंड क्लास कहां रह गया ? यह आया सैकिंड। मर्दाना है। हां, यह है लेडीज ! पर मेरी सास ? जाने आयी भी है कि नहीं ? कोई दुर्घटना न हो गई हो। आजकल गाड़ियों में यही कुछ होता रहता है।

कहीं होती तो नजर न आती ! दो चक्कर तो लगा लिये। आयी ही नहीं होगी। समझ गयी होगी नादान हैं, लड़ पड़े होंगे। एक बार उसके सामने भी तो हमारी खट-पट हो गयी थी। खूब हंसी थी हमें देखकर। बोली थी—भाई-बहन की तरह लड़ते हैं। अच्छा लड़ते रहो, सुखी रहो। फिर जाती बार आँखों में आँसू भर कर बोली थी—देखो

बेटा, मेरे पास जो कुछ था तुम्हें दे दिया। सुनकर मैं कितना कोमल हो गया था। औरतों में यही तो बात होती है। किसी को कोमल करना चाहें तो मिनटों में कर दें। मेरी पत्नी भी पिछली बार जब मैके गयी थी तो गाड़ी चढ़ते समय किस आर्द्रता से कहती थी—मुझे पत्र जरूर लिखना, बार-बार कहती है मुझे पत्र जरूर लिखना। उसके पिताजी उसके पास खड़े थे। डिब्बे के दूसरे लोगों का ध्यान भी हमारी ओर ही था। वह चली गयी थी लेकिन उसका आर्द्र स्वर भुलाये नहीं भूलता था। बार-बार कानों में गूंजता था। एक ही क्षण में मुझे उसने इतना विह्वल कर दिया था। फिर उसका पत्र आया था कि गाड़ी में उसकी तबीयत बहुत खराब हो गयी थी। मैं कितना परेशान रहने लगा था। जाने कैसे-कैसे रोग लग गए हैं! अकेले में ऐसे लगता था जैसे दम घुट जायेगा। घर उजड़ा-उजड़ा-सा लगता था। कुछ ही अर्से में गृहस्थ जीवन का इतना अभ्यस्त हो गया था। औरत की कुछ ऐसी ही माया है। रात को संग सोये नहीं कि मन का सब मैल धुल जाता है। जाल भी उसका कुछ ऐसा ही है कि आदमी जकड़े रहना भी चाहता है और छूटने के लिए भी छटपटाता है। अभी उसको गये एक महीना भी नहीं बीता था और मैं अपने से उकता कर उसके पास जा पहुँचा था।

आज की सुबह कितनी सुहानी लग रही है। हाँ, यह नयी सुबह है, यह मेरे जीवन की नयी सुबह है। मैं सब कुछ भूल जाऊँगा, सब कुछ भूल जाऊँगा, यदि मेरी पत्नी मुझसे एक बार फिर प्यार कर ले। भाई तांगे वाले, जल्दी चलो, सूरज निकलने से पहले घर पहुँचा दो तो जानूँ। मेरी पत्नी सो रही होगी। नहीं, अब नहीं सोयेगी। उसने रात को वायदा किया था। उसे प्यार से समझाना पड़ता है। मैं यूँ ही अपना धीरज खो देता हूँ। आज शाम को उसे मैं घुमाने ले जाऊँगा। दरअसल, मैं सैडिस्ट हूँ। कभी-कभी किसी को रुला कर ही मुझे चैन पड़ता है। उषा को मैंने

कितनी बार कहा था—तुम्हारी आंखों में मैं आंसू का मोती देखना चाहता हूं।

ठीक है, भाई तांगेवाले, यहीं रोक दो। मुझे यहीं उतरना है। क्या वह मेरी पत्नी खड़ी मेरी राह देख रही है? हां, वही तो है। नहीं भई, तुम्हारी माताजी नहीं आयीं। आप रात को मुझसे कहे बिना ही चले गये थे, मेरी पत्नी कहती है, माताजी नहीं आएंगी, मैंने उन्हें दूसरा तार दे दिया था। वह कुछ-कुछ मुस्कराती है। फिर सहसा उसमें प्यार उमड़ता है। वह मेरे कंधे पर अपना सिर टिकाये खड़ी है। उसकी आंखें बन्द हैं।

धूआं

कोई शुभ काम शुरू करना हो तो मेरी माताजी प्राय मंगल के दिन ही शुरू करती हैं। उस दिन किसी श्रोता ने मंगल के दिन ही बजरंगबली का नाम लेकर विविध भारती के एनाउन्सर को लिखा था कि वह उसकी पसन्द का गीत 'जा वे पीछा छोड़' सुनवा दें। अत मैं भी अपनी यह रचना मंगल के दिन ही शुरू कर रहा हूं।

वैसे सोचता तो यह था कि इतवार को ही शुरू करूंगा, लेकिन कई इतवार आये और चले गये और मेरी रचना मेरे मन में वैसे ही कुलबुलाती रही। हां, बीच-बीच में वह अपने महीन तार जरूर छोड़ती रही और कहती रही, देखो मैं इस रूप में हूं, इस रूप में हूं, लेकिन मैं उसके किसी भी रूप को पकड़ नहीं पाता था। पकड़ पाता भी था तो इतवार न होने के कारण उसे अपने हाथों से खो देता था। फिर जब कभी इतवार आया भी तो पत्नी का अपना आग्रह, "रोज-रोज, रोज-रोज तो दौरे पर चले जाते हैं और आज भी जल्दी उठने की रट लगाए हुए हैं।"

"हां भई, तुम ठीक ही कहती हो, जहां मैंने अपनी जिन्दगी का इतना

अंश सरकार को दे दिया है, यहां थोड़ा सा तुम्हारे हिस्से भी होना ही चाहिए। लेटी रहो तुम। मैं जरा भी तुम्हें कुछ कह गया तो…"

"हां, हां, आप तो जरा सी बात का बुरा मान जाते हैं," और वह कसकर मुझे प्यार कर लेती है।

और ऐसे ही चलता रहता है इतवार की सुबह को। और फिर सात बजते हैं, आठ बजते हैं, नौ बजते हैं, दूधवाला आता है, दरवाजा क्षण भर के लिए खुलता है और बन्द हो जाता है, बरतन साफ करनेवाली आती है और खटखटा कर चली जाती है, चपरासी आता है और परेशान होकर चला जाता है। मिलनेवालों को मैंने मना कर रखा है कि दस बजे से पहले आने की कभी न सोचें।

लगता है मुझे खिड़की बन्द कर देनी पड़ेगी। फरवरी की दो तारीख है और सुबह के आठ बजे हैं, लेकिन शीत का प्रकोप वैसे का वैसा है। कभी-कभी मन जकड़ा-सा जाता है। लेखनी आगे बढ़ती ही नहीं। सोच रहा था, लिखूंगा कि दिन में बिजली जलाने से (खिड़की बन्द रहने के कारण) बिजली का बिल बहुत चढ़ जाता है। लेकिन ठीक से इसे मैं कह ही नहीं पा रहा था। हां, मानव जीवन की दो ही तो मौलिक आवश्यकताएं हैं—अर्थप्राप्ति और कामपूर्ति। लेकिन आज के युग ने काम को ही श्रेयस्कर ठहराया। इतनी ठंड में मेरा कश्मीरी पशमीने का ड्रेसिंग गाउन भी काम नहीं कर रहा है। पत्नी उठी थी। एक कप चाय देकर लेकिन सिरदर्द लेकर जा लेटी। रात को मुझसे सन्तुष्ट नहीं हो पायी थी। दिन भर इसी तरह कुछ-न-कुछ लेकर भींकती रहेगी। भींका करे। मैं क्या कर सकता हूं? कुछ बात छेड़ो तो कह देती है, सेक्स-वेक्स वह कुछ नहीं जानती। किसी के द्वाभाकाल में कोई हलचल भी होती है, इस का तो जिक्र ही क्या? फिर भी उस दिन मैंने जान-बूझ कर उसकी उपस्थिति में विन्दो से उसका हाथ देखते-देखते इस युग की लड़कियों की प्रेम-लीला की चर्चा छेड़ दी थी ताकि उसको अपनी असलियत का पता चले।

मैंने कहा था, "बिन्दो, तुम्हारे हाथ में तो अनेक पुरुषों से प्रेम करना लिखा है।"

और वह ज़रा भी नहीं सकुचाई थी, बल्कि भीगे हुए स्वर में बोली थी, 'मेरी तो ऐसी किस्मत है कि जिस पर मैं निगाह रखती हूं वह किसी-न-किसी कारण मुझसे दूर चला जाता है।"

इस पर मुझे याद आया था कि मेरी शादी से पहले एक बार बिन्दो की निगाह मुझ पर भी टिकी थी और हरचन्द कोशिश करने पर भी वह मुझसे अपनी मास न भर पायी थी। आजकल उसका रोमांस कहीं और चल रहा है।

फिर उसने कॉलेज की अपनी सहपाठिनियों के बारे में कहना शुरू किया था—शशि मरदों जैसी जवान है, बॉब हेयर रखती है और रात को होस्टल की दीवार फांद कर भाग जाती है। वीणा लड़कियों से ऐसी ऐसी बातें करती है कि कान सनसना जाएं। मोहनी है, सलवार-कमीज़ पहनती है लेकिन जिस दिन साड़ी पहन कर आये उस दिन समझ लो कि किसी के साथ पिक्चर देखने का प्रोग्राम है।

मैंने कहा था, "तुममें कोई ऐसी लड़की भी है जिस पर कोई उंगली न उठा सके?"

और उसने अपना सिर ऐसे हिलाया था जैसे हां, ना कुछ न कह पा रही हो। और यह देखकर मेरी पत्नी मेरा मुंह ताकने लगी थी, "हाय, कैसा ज़माना है।" और पच्चीस वर्षीय अपनी पत्नी के मुंह से यह आश्चर्यान्वित वाक्य सुन-सुन कर मैं और भी आश्चर्यान्वित होता रहा था। फिर उसने मुझे स्वयं ही बताया था कि बिन्दो के बाप ने बिन्दो के व्यवहार के कारण उसकी कई बार पिटाई की है लेकिन वह बाज़ नहीं आती।

रचना शुरू करने से पहले मैं प्रायः उसका अन्त लेकर चलता हूँ।

लेकिन आज तो मेरे पास न अन्त है न आरम्भ। पता नहीं, कहां-से-कहां पहुंच जाऊं। हां, इसको शुरू करने से पहले मन में कुछ चित्र जरूर उभरे थे और उन्हीं को उतारने की ठानी थी। जैसे मुर्गा छाप बीड़ी के कैलेण्डर पर आलोकपुंज भगवान् बुद्ध का चित्र, जिसमें वह एक विशाल बरगद के नीचे पद्मासन में बैठे ध्यानमग्न हैं और उनके समीप समर्पण-मुद्रा में गुलाब, चमेली और चम्पा से बनी, सदाबहार की तरह लहलहाती एक चिर-यौवना अपनी चकोरी आंखों में प्रेम, मिलन एवं विरह के सभी रंग भरे उनकी ओर देखते हुए भी कहीं और देख रही है, और इस सब पर जैसे कि आकाश ने नीलिमा भर रखी है। सोचता हूं काश मेरी पत्नी भी ऐसी ही होती। मैंने अपनी पत्नी के संग लेटे-लेटे कई बार इस चिर-यौवना को स्मरण किया है। कभी-कभी ऐसे अवसर पर मैंने सुधा गुहा को भी याद कर लिया है जिसने कभी मेरे जीवन की हर सांस को महका दिया था और फिर स्वयं ही उसमें विष भरने लगी थी। उसके साथ पिये हुए रेड-एण्ड-ह्वाइट सिगरेट का धूआं अब भी मेरी आंखों के सामने घिरने लगता है। (जी हां, सिगरेट पीना तो मैंने रेड-एण्ड-ह्वाइट से ही शुरू किया था लेकिन अब उतने दामों में चौगुने पीने के लालच में चारमीनार पर ही आ गया हूं। अर्थसंकट का युग है न!)

ऐसे ही समय कभी-कभी मीरा दास की भी याद हो आती है जिसने मेरा प्रेम पाने के लिए मुझे अपना सब कुछ दे दिया, लेकिन जिसे मैं अपनी विवशताओं के कारण उसके बदले में उसे कुछ न दे पाया। इसी को लेकर मैंने कई बार एक उपन्यास लिखने की भी सोची। पूरी योजना बनायी। शुरू सोचा, अन्त सोचा, लेकिन सब सोच-सोच में ही कहीं खो गया। लगता है जैसे किसी प्रच्छन्न-शान्त ताल में मैंने एक कंकड़ छोड़ दिया हो और जब उसमें लहरियां उठने लगी हों तो मुझे उनको देखने से वंचित कर दिया गया हो। कभी-कभी यह सब सोच-सोचकर मैं ऐसे ही उत्पीड़ित-सा हो उठता हूं। सोचता हूं क्या हमारा समाज ऐसा ही निर्मम-निरीह बना रहेगा?

पर मुझे अब यह सब सोचने का अधिकार नहीं है। अब तो मैं एक विवाहित व्यक्ति हूं। समाज का एक इज्जतदार प्राणी हू। अब तो मुझे अपनी पत्नी के सिवा किसी और को बिलकुल नही सोचनी चाहिए। दाम्पत्य और सामाजिक सुख की कुंजी इसी मे है। (यह मैंने कल रात ही स्वनामधन्य 'समाज, विवाह और सुख' नामक पुस्तक से जाना है। पुस्तक माग कर पढने वाले बन्धु लालच में न आयें क्योंकि एक तो इससे लेखक बेचारा कभी अपना पेट नही भर सकता और दूसरे मैंने इसके प्रकाशक महोदय को शपथ दी हुई है कि इसे मैं अपनी दूसरी पुस्तकों के बीच न रख कर ताला-चाबी मे बन्द रखूंगा ताकि मेरी बेखबरी मे यह किसी बाल-किशोर के हाथ न पड़ जाए। और ठीक भी है। मैं क्यों युग को दूषित करने का भागीदार बनू ?)

उठूं, लिखना तो चलता ही रहता है। जरा पत्नी की भी सुध ले लू। वैसे मेरे चुमकारने-पुचकारने से क्या होगा ? जो होना था वह तो हो चुका। पिछले इतवार को ठीक रहा था। उस दिन उसका रूप कितना निखर आया था ? और जब नहा कर नये वस्त्रो मे वह बाथ-रूम से निकल रही थी तो क्या वह धवल आकाश, उज्ज्वल नक्षत्र की तरह चमक नहीं रही थी ? यही उपमा उस समय मेरे मस्तिष्क मे कौंधी थी, और उसी समय मैंने इस उपमा से एक कहानी शुरू करने की सोची थी। इसी तरह मैंने कई कहानिया लिखने की सोची। श्रीमती सुधा गुहा तो जैसे बार-बार मेरी आखों के सामने यही कहती आती है—लिखो मेरी कहानी, लिखो मेरी कहानी। लेकिन मैं उसको कैसे बताऊ कि भई, लिखने तो मैं तुम्हारी कहानी ही बैठा था, लेकिन लिख मैं अपनी पत्नी के बारे में रहा हूं। लेकिन घबराओ नही, तुम्हारे तरह-तरह के रूप मेरे मन से धुले नहीं हैं। यह हो सकता है कि तुम्हारा अकन मैं पूरी तटस्थता से न कर पाऊं, क्योंकि एक समय तुम मेरे जीवन का अभिन्न

अंग रही हो, लेकिन जहां तक बन पड़ेगा मैं तुम्हारे साथ पूरा-पूरा न्याय करूंगा। किन्तु साथ-साथ यह भी कहता हूं कि जहां तक तुमसे भी बन पड़े, एक बार तुम मुझे अपने मन में तोलना, पाप-पुण्य की दृष्टि से नहीं, न्याय-अन्याय की दृष्टि से।

मुझे अब भी याद है जब पहली बार मैं तुमसे मिलने गया था। कॉल-बैल को बजाने पर तुमने ही दरवाजा खोला था। संध्या के उस समय तुम्हारे केश खुले थे और तुमने उसमें कोई बेशकीमती सैंट लगा रखी थी। बाद में तुमने बताया था कि वह सैंट तुम्हारा एक धनिक मित्र पैरिस से लाया था।

मैं यहां तुम्हें यह भी बता दूं कि तुमसे पहले मैं कभी किसी तुम्हारी जैसी उच्च-वर्गीय महिला के सम्पर्क में नहीं आया था। इसलिए तुम्हारी हर चीज मुझे चकाचौंध कर रही थी। खजुराहो की नग्न-मूर्ति के हाथ में दीपशिखा से झरता हुआ बिजली का मन्द-मन्द प्रकाश, फर्श पर बिछे बढ़िया कालीन से झांकते हुए बेल-बूटे, बेंत की हरी कुर्सियों पर सितारों से झिलमिलाती हुई गद्दियां, दीवानों पर बिछी हुई गृह-उद्योग को प्रोत्साहन देनेवाली चादरें, आधुनिकता के प्रतीक खिड़कियों पर पड़े हुए नेट-नाइलोन के परदे, एवं अगरबत्तियों (यह तो मैं नहीं जान पाया कि यह कहां की बनी हुई थीं) से उठती हुई मन्द-मन्द सुगन्धि। इन सबने एकबारगी मुझे अभिभूत कर लिया था। (मुझे क्षमा करना, मैंने तुम्हारे कमरे में टंगें यामिनी राय एवं पिकासो के चित्रों तथा तुम्हारे कमरे की शोभा को दोबाला करने वाले तुम्हारे रेफरिजरेटर का उल्लेख नहीं किया है। हाँ, सामने दीवाल पर टंगा तुम्हारा अपने पति के साथ फोटो भी देखा था।)

यहाँ बीच में तुमसे एक बात और भी कह दूं। जब तुससे मेरा नाता टूटा था, तो लगा था जैसे मेरी मोहिनी टूटी हो। उस समय मैं अत्यधिक विह्वल था। मुझे रत्ती-सा भी कोई छू देता तो मैं रो देता। (बाद में याद कर लता मंगेश्कर का एक गीत सुनते-सुनते मैं रो दिया था। पर

इसमें कसूर तुम्हारा नहीं, गायिका का है !)

उन दिनों भी यही मौसम था। हवा ऐसे ही फर्राटे से चल रही थी। मायूसी की हालत में साइकिल पर पैडलिंग करते-करते मैंने तुम्हारे कई रूप सोचे थे। तुमसे छिपाऊं क्यों? साफ-साफ कह दूं। एक में तो मैंने तुम्हें मृत अवस्था में देखा था। यानी, अगर तुम्हारी कहानी भी लिखता तो मृत्यु-समाचार (ओबीच्युरी) की शैली में। खैर, उस समय मन में विद्वेष था, नहीं उंडेल पाया तो अच्छा ही हुआ। अब जब कि सब छन-छट चुका है, तो यह सब लिखने में मैं समझता हूँ कोई हर्ज नहीं। तटस्थता का वायदा तो मैं पहले ही कर चुका हूँ। दस वर्ष का समय इसके लिए काफी है। है न? कहूं तो मेरा सकोच मिटानेवाली तुम्हीं थी। (पाठक यहाँ जान लें कि मेरी शादी हुए अभी केवल पाँच वर्ष ही हुए हैं।) उस समय मेरी रचनाओं की तुमने दिल खोल कर सराहना की थी। बाद में तुम्हारे पति आ गये थे और तुम्हारे प्रोत्साहन देने पर उन्होंने मुझे 'जीनियस' करार दिया था।

उन दिनों मैंने कल्पना की कितनी ऊंची पींग बढ़ा ली थी। (क्षमा करना, इस युग की उपमा नहीं दे पा रहा हूं। कारण भी बता दूं। अब मैं एक शासकीय अधिकारी हूं। अभी चपरासी आया था और दिमाग मेरा दफ्तर के एक "तुरन्त" पत्र में उलझा गया है।) उन दिनों की एक और शाम मुझे याद आ रही है। तुम कहीं बाहर से उस समय लौटी थीं। फूलों की वेणी में गुंथे तुम्हारे केश तथा मैक्सफैक्टर के लिपस्टिक में महकते तुम्हारे ओंठ ही उस समय केवल मुझे दिख पाते थे। (मोह में मन की यही अवस्था होती है।) तुम्हारे साथ तुम्हारे बंगले में घूमते समय उस दिन तुम्हारा एलसेशियन डॉग जाने मुझ पर क्यों झपट पड़ने को हो रहा था? उस दिन तुम मेरे साथ न होतीं तो जाने मेरी क्या गत होती? (इसलिए तो मैं अपने से भिन्न वर्ग वाले लोगों से अब भी कतराता हूं।) जिस दिन हमारा-तुम्हारा आखिरी मिलन था, उस दिन भी तुम्हारा यह कुत्ता मुझ पर भौंका था। छोड़ो इस बात को।

मैं तुम्हें कोई उलाहना तो दे नहीं रहा। कुत्ता है, भौंकेगा ही!

दिल कहते हैं एक बांसुरी के समान होता है, शायद तुम जैसों के बजाने के लिए, जैसा भी चाहो। मेरे दिल की बांसुरी को भी तुमने हर सुर में बजाया। कभी आशा में, कभी निराशा, और फिर कभी झटक कर अलग कर दिया। खैर, उस समय तुम्हारी आंखों में उमस थी। बातों-बातों में अब तक मैं तुमसे पा चुका था कि तुम्हारी अपने पति से कोई अच्छी नहीं निभती और इसलिए रात को वह प्रायः देर से आते हैं।

उस दिन तुमने अपने कमरे की मेनलाइट बुझाकर खजुराहो वाली मूर्ति के हाथ की दीपशिखा जला रखी थी। बातें करते-करते हम प्रायः एक दूसरे में खो-से गये थे और तुम्हारी आंखों की उमस गहरा कर मोती बन गयी थी। दीपशिखा के प्रकाश ने, जिसको तुम ओट में लिए बैठी थीं, तुम्हें अद्भुत स्वप्निल मुद्रा में ढाल दिया था। तब हम दोनों ने साथ-साथ रेड-एण्ड-ह्वाइट के सिगरेट पीते हुए हेवलक ऐलिस के 'फैलेशियो-कनिलिंगस' से आंद्रेजींद की 'पैड्रास्टी' तक, सभी कुछ की चर्चा कर डाली थी। उस समय मैं तुम्हारे बहुत करीब बैठा था, यहां तक कि तुम्हारे श्वास का उमड़ना-छटना, मैं सब कुछ अनुभव कर रहा था। फिर एकाएक तुम्हें हमारी इस स्थिति का भान हुआ और तुम झट यह कहती हुई परे हट गयी थीं, "ओह, मेरे पति आ रहे हैं!"

मैं तुम्हें सच-सच कहूं तो यह मेरे जीवन का एक अविस्मरणीय क्षण है और इसे मैं हमेशा फिर से पकड़ पाने की चाह में रहा हूं।

रेखा, मैं जानता हूं तुम होतीं तो न जाने कितने आँसू बहातीं। (पत्नी ने तो परसों 'धूल का फूल' देखकर कहा था—शादी से पहले लड़के-लड़कियाँ यदि प्रेमाचार करें और उससे उनके बच्चा हो जाये तो उसमें कसूर किसका है?) तुम्हारी याद अब भी मेरे दिल में कसकती है। अब

मुझे विश्वास हो गया है कि प्रेम करने से पहले या तो अपने को जीतना होता, या समाज को। मैंने शुरू में तुम्हारी प्रसन्न-शान्त शाम से तुलना की है, और स्वयं को एक कंकड़ माना है। लेकिन कुछ समय के लिए ही मैं तुम्हारे जीवन को विचलित-आन्दोलित कर पाया हूँगा। क्योंकि मैं तो एक कंकड़ था न? बाद में न जाने समय के ऐसे कितने कंकड़ तुम्हारे जीवन-ताल में पड़े होंगे। लेकिन पारस क्या अपना स्वभाव छोड़ देता है? मैं जानता हूं, जो भी तुम्हारे सम्पर्क में आया होगा सोना बन गया होगा। इसी से शायद मैंने तुम्हें अपनी कल्पना में प्रायः शरत् की पारो के रूप में देखा है।

मैंने अपनी पहली कहानी तुम्हारे इसी रूप को लेकर लिखी थी। लेकिन जिस किसी सम्पादक के पास मैंने उसे प्रकाशनार्थ भेजा उसने उसे मेरे जीवन की पहली भूल जानकर 'खेद सहित' लौटा दिया। (लौटा दिया? नहीं, शायद मैं ठीक से नहीं कह पा रहा हूं। मैंने उस कहानी को किसी सम्पादक के पास भेजने से पहले शायद पन्द्रह बार लिखा था। फिर शायद पन्द्रह बार ही उसकी प्रतिलिपियाँ बनानी पड़ीं। जानती हो, दस पृष्ठ की एक प्रतिलिपि तैयार करने में कितना समय लगता है? कम से कम तीन घंटे। कागज, स्याही और डाकखर्च पर जो व्यय हुआ, सो अलग। और इस पर भी शायद दस में से पांच ही सम्पादकों ने रचना लौटाने का कष्ट किया, छापने और पारिश्रमिक देने की बात तो दूर रही।)

तुम क्या अन्दाज लगा सकती हो उस समय मुझे कितनी निराशा हुई होगी? यदि वह रचना मेरे जीवन की पहली भूल थी तो उसके बाद वैसी भूलें न जाने मैं अब तक कितनी कर चुका हूं। कुछ सम्पादक भी अब समझ गये हैं। लेकिन कुछ ने अब भी अपना रवैया नहीं बदला है। ओह-ओ, देखा, मैं कहां से कहां पहुंच गया हूं। (तभी तो पत्नी कहती है कि यदि उसे पहले पता होता तो वह लेखक से कभी शादी न करती। हम विवाह से पहले एक-दूसरे को देख-सुन भी न सके थे!)

एक दिन तुम्हारे प्रति अपने उद्गार मैंने एक दूसरे ही रूप में प्रकट करने चाहे। एक पत्र लिखना शुरू किया, कामिनी के नाम (नाम काल्पनिक है।) सोचा था उसमें अपनी सामाजिक एवं साहित्यिक, सभी मान्यताओं को लिखता चलूंगा, अपने लिखे हुए पात्र भी डालूंगा, लेकिन कर कुछ भी न पाया। केवल दो-तीन पृष्ठ लिखकर रह गया। बाद में पता चला कि बर्नार्ड शॉ ने तो एक ऐसा पत्र लिखा भी था।)

उन्हीं दिनों की एक बात याद आ रही है। संध्या समय, सुनसान सड़क और उस पर मैं अकेला भटक रहा हूं। गजब की सरदी। तन, मन, मेरे सब ठिठुरे हुए हैं। चारों ओर कुहासा छाया हुआ है। दूर कहीं से धुआं उठने को हो रहा है, लेकिन कुहासा उसे उठने नहीं देता। फिर मुझे तुम्हारी याद आती है और लगता है जैसे मेरे दिल से खून टपकने लगा है। फिर मुझे वे क्षण याद आते हैं जब तुमको मुझसे बलात् छीन लिया गया। मैं वह सब अपनी आंखों से देखता रहा और एक शब्द भी न बोल पाया। मैं, निरुपाय, निःसहाय, भला कर भी क्या कर सकता था? निरुपाय, निःसहाय व्यक्ति भला कर भी क्या सकता है? सब कुछ उसकी आंखों के सामने घटता है और वह मूक-अवाक् उसे देखता रहता है। जाने अब तुम्हें ढकेलकर किस गर्त में फेंक दिया गया है!

कल ही एक व्यक्ति देखा। कपड़ों-लत्तों से भलामानस दीखता था। (भलमनसता के और क्या लक्षण देखे जायेंगे?) एक बच्चे को उंगली से लगाये हुए था और दूसरा उसकी बगल में था। चिल्ला-चिल्ला कर दुहाई दे रहा था कि यदि कोई उसके बच्चों को संभाल ले तो वह सुर्खरू हो जाये, क्योंकि बीवी उसकी मर चुकी है और स्वयं वह कहीं काम करते-करते हंसली टूट जाने से अब कुछ कर नहीं सकता और भीख इस युग में कोई देता नहीं। ऐसे ही वह आर्त-भाव से अपनी कहानी सुनाता रहा। किसी ने उस पर विश्वास किया और दो-चार आने और घर के गंदे चीथड़े उसकी झोली में डाल दिये, लेकिन बहुतों ने उस पर अविश्वास किया और उसे दुत्कार कर आगे बढ़ने को कहा। लेकिन मैं

सोचता हूँ, रेखा, कि यदि वह सच्चा हो और सब उस पर ऐसे ही अविश्वास करते रहे तो अपनी उस संकीर्ण अवस्था मे आखिर वह क्या करेगा ?

खैर, छोड़ो इस सबको। कोरी भावुकता में क्या रखा है ? अपनी ओर से सोच रहा हूँ कि यह सब लिखकर तुम्हारे प्रति उऋण हो लिया हूँ।

किसी साहित्यिक कृति को किस कसौटी पर कसा जाये ? एक लेखक की सीख है कि यदि किसी लेखक को अपनी सफलता परखनी हो तो वह किसी शत्रु के ब.रे मे लिखे और फिर किसी तरह उसे उस तक पहुंचाए। रचना सुनकर यदि शत्रु का मैल घटे तो उसे सफल मानना चाहिए, वरना असफल।

लेकिन इधर बात दूसरी ही हुई। लिखते-लिखते काफी बाधाएं आयीं। आज पच्चीस फरवरी है और दोपहर का एक बजा है, लेकिन रचना अभी घिसटती चली जा रही है। इधर पत्नी की तबीयत भी कुछ नासाज रही और साथ-साथ मुझे मेरे स्थानान्तरण का आदेश भी मिल चुका है। मन में अपनी ही तरह की ऊहापोह मची रही। जो कुछ लिखा था वह कल पत्नी को ही पढ कर सुनाया। ऐसी बेवहार की सुननी पडी कि कान माथे न मधते थे। इसीसे अपनी रचना को असफल मानकर ज्यूं-त्यूं करके इसे खत्म करने का प्रयास कर रहा हूँ।

कहने को अभी बहुत कुछ बाकी है। परम मित्र रघुनन्दन की एक नवयौवना के ससर्ग मे बिताये उसके बाल्यकाल के कुछ क्षणो की सन-सनाती अनुभूतियां हैं जिनको उसने अल्बर्टो मोराविया की तरह सजोकर रखा हुआ है। श्रीमती सुधा गुप्ता की अपने षोड़शकाल की कुछ अनुभूतियां हैं जो उसे उसके घर के सामने रहनेवाली नगर-वधुओं को किवाड़ों की आड मे से छिप-छिप कर देखने से प्राप्त हुई थी।

धुआं

लेकिन उस संबन्ध में यहाँ विस्तार नहीं दूंगा । जो व्यक्ति, पति अथवा कलाकार, किसी भी दृष्टि से अपनी पत्नी की तराजू पर पूरा नहीं उतरा है, उसे मैं सरासर अकृत-कृत्य मानता हूँ । अतः मैं आपसे विदा लेता हूँ । पत्नी का आगे जो फैसला होगा, हो सका तो उससे भी मैं आपको यथासमय अवगत कर दूंगा । तब तक के लिए आज्ञा चाहता हूं । अस्तु………।

बीवियां और बीवियां

पहले तो रात के ग्यारह बजे तक पड़ोस में सीलोन रेडियो चिल्लाता रहा। वह बन्द हुआ तो दो-चार मच्छरों ने अपना राग शुरू कर दिया। सब किसी की दुहाई दी कि भई, बहुत हो लिया, अब तो रहम करो, लेकिन मच्छर मच्छर ही ठहरे (मच्छर क्या और कलाकार क्या, जब रयाज़ शुरू कर दें तो किस की सुनते हैं!), वह घू-ऊ, घू-ऊ मचायी कि मैं हाय-तोबा कर उठा। पत्नी से खीझकर बोला, "भई, मच्छरदानी ही लगा लिया करो।" लेकिन उसने सहज ही बताया कि मच्छरदानी का एक बांस तोड़ कर उसने रसोई की नाली खोली थी।

मौसम भी अब बदलने लगा है। रजाई ओढ़ी नहीं जा रही। पति-पत्नी के शरीर की गरमी अब एक-दूसरे को सताने लगी है। पत्नी भी करवटें बदलती रही। एक-दूसरे की ओर पीठ करके लेटें तो वह भी अच्छा नहीं लगता। आखिर मैंने हार कर फ्लिट का पम्प उठाया, और लगा इधर-उधर गैस के गुब्बार उड़ाने। पर इससे क्या होता है। पत्नी ने कहा, "जानते नहीं, ये तो अब आएंगे ही। कल शिवरात्रि थी। शिवजी

ने अपनी साड़ी फाड़ दी है।"

पत्नी की इन्हीं बातों में कभी-कभी दिल उलझ जाता है। हंस भी देता हूं और खीझ भी उठता हूं। यह हंसी और खीझ भी अपनी ही तरह की होती है। इसी तरह हंसते-हंसते, खीझते-खीझते हम आपस में लड़ पड़ते हैं, और बात एक-दूसरे से अलग होने तक आ पहुंचती है।

खैर, छोड़िये इस सब को। मैं इसमें गुस्ताखी पूरा कुछ जरूरत से ज्यादा दे गया। बात आंखों से नींद उड़ जाने के बारे में कह रहा था। पत्नी इस बीच शायद सो भी जाती, लेकिन एक तो मैं अपने हाथों से मच्छर उड़ाता हुआ उसे किसी तरह अपनी बातों में उलझाये रहा, और दूसरे हमारे पिछवाड़े में पकौड़ी-चाटवाले उठ गये थे (वे रात के बारह बजे सोते हैं और ढाई-तीन बजे उठकर फिर काम में लग जाते हैं। ताज्जुब होता है हमें उनकी शक्ति पर। हम जो सुबह आठ बजे उठकर भी ताजा नहीं हो पाते।) और अपने नियमानुसार दाल इत्यादि पीसने में लग गये थे। साथ में उनकी बीवी-बच्चा भी जग गयी थीं। इसलिए चिल्लपों में अब नींद का आना असम्भव ही था। नींद आयी भी होगी तो सुबह पांच बजे के करीब, जब दुनिया जग गयी होगी और उनकी चिल्लपों को उसने अपने हो-हल्ले में डुबो लिया होगा। यह सब हमें, हमारे सोने के कमरे में कोई खिड़की-रोशनदान न होकर एक साधारण झरोखा-सा होने के कारण, भुगतना पड़ता है।

पत्नी मेरी चाहे और किसी काम में पटु हो या न हो, लेकिन बातें करने में खूब है। उसने मुझे बताया कि बगल में फलां साहब के यहां तीन-तीन सरकारी चपरासी काम करते हैं। एक खाना बनाता है, दूसरा कपड़े धोता है, (चाहे कैसे भी हों) और तीसरा सफाई इत्यादि करता है, और दौरे पर इनके साथ एक और जाता है। चपरासी तो चपरासी, यदि किसी को उनके महकमें में नौकरी की गरज हो तो वे तो क्या उनकी औरतें भी उनके यहां आकर काम कर जाती हैं। कोई दाल बीनती है, कोई मसाला कूटती है और कोई······। मुआ बदमाश है, बदमाश !

मुहल्ले में दाखिल होता नहीं और उसकी आँखें चारों ओर घूमने लगती हैं। कोई औरत उसकी नजर पड़ जाए सही, उसे ऐसे देखेगा जैसे पता नहीं क्या करेगा। आजकल उसके यहां एक शरणार्थी लड़की उसके बच्चों को पढ़ाने आती है। तभी तो उसकी बीवी की उससे बहुत कम पटती है।

पत्नी की बात पर मैं क्या कहता। मैंने कहा, हा भई, अपने यहा तो चपरासियों का दूसरा ही हाल है। मोतीसिंह को जब खाने को नहीं मिलता था तब हाथ जोड़कर आ खड़ा हुआ था—साहब, किसी तरह नौकरी दिलवा दीजिये, आप जो भी कहेंगे, करूंगा। और अब है कि यदि कोई काम बता भी दो तो जो चीज दो आने में मिलती है, वह चार आने में लायेगा और लायेगा भी गली-सड़ी। दौरे पर मेरे साथ गया तो उसके ठाठ ही दूसरे थे। किसी के सामने इससे कोई काम कह दो तो ऐसे दिखता जैसे इसे सांप सूंघ गया हो। बाद में पता चला कि जनाब से यदि कोई पूछता तो कह देता, साहब का क्लर्क हूं। मोतीसिंह जो है सो है, बड़े बाबू केशवदास को देख लो। दफ्तर में साहब हुए तो कुछ कलम घसीट ली वरना खुद तो निकम्मा बैठेगा ही, दूसरों को भी अपने साथ बिठा लेगा। और यदि पूछो कि भई, जो आपको कहा था किया, तो बोह बेसिर पैर की हांकेगा कि सुनो तो सुनते ही जाओ। दफ्तर का अनुशासन बिगड़ता है तो ऐसे ही लोगों के कारण, वरना एक चपरासी क्या जाने कि साहब उसका घर का काम न करने से कुछ नहीं बिगाड़ सकते!

विषय काफी गम्भीर हो गया था, इसलिए बात को मोड़ देने की जैसे कि हम दोनों ने एक दूसरे को मौन स्वीकृति दे दी। इन्हीं दिनों पत्नी की एक सहेली को अस्पताल में कुछ दिन रहने का इत्तफाक हुआ (बेचारी के बहुतेरा कहने पर भी उसके पति ने अपना ऑपरेशन नहीं करवाया, और सात बच्चों की मां होते हुए भी इस बार उसे फिर भुगतना पड़ा।)। वहां एक मेहतरानी है। ब्याह के बाद तो उसे समझ लेना चाहिये था कि अब वह कुंआरी नहीं है, लेकिन वह अपने काम पर वैसे ही जाती रही और पहले के दो-तीन महीनों में तो औरत को बहुत सावधानी बरतनी चाहिए।

इसी तरह एक दिन उसकी तबीयत काफी बिगड़ गयी। वह फिर भी अपने काम में लगी रही। आखिर कुछ नर्सों ने उसे देखा और डाक्टर को बताया और डाक्टर ने जबरदस्ती उसको इंजैक्शन देकर छुट्टी पर कर दिया। वह दिन और यह दिन, दस साल होने को आये, कि जाने क्या हुआ उसके अभी तक कोई बच्चा नहीं हुआ। खैर, यह तो उसको बहुत पहले ही पता चल गया था कि उसके बच्चा होने की कोई सम्भावना नहीं है। पहले तो उसने अपने पति को बहुत मनाया कि वह दूसरी शादी कर ले ताकि वह बच्चे का मुंह देख सके, लेकिन पति उसकी एक न सुनता था। उधर पति के रिश्तेदार थे जो हर समय उसको उनके किसी बच्चे को गोद ले लेने के लिए उकसाते रहते। आखिर पत्नी की पति के सामने कोई पेश न गई तो उसने स्वयं ही उसके लिए एक लड़की देखी और सब कुछ पक्का करके पति को उनके वहां जा भिड़ाया। शादी हो गई और फिर वर की नयी वधू से पटने भी लगी और फिर नयी वधू ने घर के सूने आंगन में फूल भी लगा दिये और इधर पुरानी वधू ने उन्हें अपनी झोली में भर लिया। अब वर अपने काम पर जाता है, पुरानी वधू भी अपने काम पर जाती है, नयी वधू घर सम्भालती है और रिश्तेदार उनका मुंह देखते हैं।

सौत की डाह तो वैसे जगत-प्रसिद्ध है, लेकिन पत्नी की यह कहानी भी किसी तरह झूठी नहीं दिखी। और उसने ठीक इसी तरह का एक और किस्सा भी सुनाया। मुझे भी ठीक इसी तरह की एक बात याद आ गयी। वह महोदय तो सरकारी कर्मचारी हैं। उनकी दोनों बीवियों में ऐसी पटती है कि सगी बहनों में क्या पटेगी, बल्कि ऐसी स्थिति में तो सगी बहनें भी सौत बन जाती हैं। मैंने पत्नी से कहा—यह सब आदत की बात है। मातृ-सत्ता समाज में देखिए। वैसे तो क्या मजाल कि किसी की औरत की तरफ कोई मैली आँख से भी देख जाए। सभ्यता के नाते न बोल पाए तो दूसरी बात है। लेकिन वहां एक पत्नी के चार-चार पति होते हैं, जैसे तिब्बत में है। यह तो हमारा देश ही है और उसमें भी विशेषकर उसका मध्यम वर्ग, जहां एक-पति-व्रत-धर्म चला आ रहा है।

पश्चिमी समाज देखो, एवं अपने यहां का आदिवासी-समाज ही देखो, कहां है अखण्ड पातिव्रत्य वहां ?

मैं जानता हूं कि अपनी बात कहते-कहते मैं विषयान्तर कर गया था। यह मेरा दोष है, लेकिन अपनी बात जब कोई कहना शुरू करे, तो कौन बन्द करता है। कुछ कुछ लोग तो अपनी कहने को इतना ललक उठते हैं कि उन्हें यह भी नही सूझता कि पहले दूसरा खत्म करले, तब शुरू करेंगे। खैर, कहना तो मैं और भी बहुत-सी बातें चाहता था। पत्नी की बात ही पत्नी को सुनाना चाहता था। हमारे यहां कपड़े धोनेवाली है। पति जब मरा तो जेठ-जेठानी, सब ने कहा कि दूसरी शादी कर लो, कहां यह जवानी लिये फिरोगी, लेकिन तब उसने एक न मानी। लेकिन जब अपनी खुशी हुई तब वैसे ही एक होटलवाले के पास जा रही। होटलवाला भी कुछ अजीब है। यह तो है ही, उसकी अपनी ब्याहता भी है। और इनके साथ-साथ एक और भी फंसा रखी है। समय-समय पर तीनों के साथ रहता है। एक का समय हुआ तो दूसरी के पास······। और उधर मेरी पत्नी की एक और सहेली है। उस की बुआ की बात है। सोलह वर्ष की उम्र मे शादी हुई, लेकिन एक दिन भी पति के साथ रह न पायी, और वह बेचारा चल बसा। और कोई होती तो शायद अब तक कहीं बैठ गयी होती, लेकिन उसकी तो एक ही रट है······यदि मेरे नसीब में सुख होता तो वह ही जिन्दा रहता। और वह पच्चीस की होने को आयी है, लेकिन अपने विश्वास से डिगी नहीं है।

मैंने अपनी पत्नी से पहले भी पूछा है, और अब भी पूछा, "भला, जब औरत को पता चल जाए कि उसका आदमी कहीं और झक मार रहा है, तो वह कैसे बरदाश्त करती है ?" इसका उत्तर मैं पत्नी को स्वयं ही कई बार दे चुका हूं, लेकिन फिर भी उससे प्रश्न किये बिना न रह सका। मैंने उससे यह भी कहा, "मैं नहीं समझता कि कोई औरत या मर्द ऐसे

तो अपना जीवन बिता सकता है। किसी न किसी समय तो उसके मन में तरंगें उठेंगी ही।" लेकिन मेरे ये दोनों प्रश्न प्रायः अनुत्तरित ही रहे। बातें ऐसे ही अपनी राह बनाती रहीं। मय, जाम और साकी की बात चल पड़ी। आगरा में अपने मित्र के संग देखे, यमुना तट पर खड़े एतमादुद्दौला के मकबरे में लिखे ऐसे ही कुछ मित्रों की याद आ गयी। एक स्त्री के होते हुए दूसरी स्त्री के प्रति अनुराग की बात मैंने उससे भी छेड़ी थी और उसने अपना ही उदाहरण देकर बताया था कि समय सब कुछ ठीक कर देता है। औरत शुरू में पीटेगी, रोयेगी, चिल्लायेगी, लेकिन बाद में सब ठीक हो जाता है।

मेरा यहां बता देना असंगत न होगा कि रात के ऐसे समय ऐसी बातें यूं ही नहीं चला करतीं। इस बीच पत्नी ने कई बार मुझे अपनी छाती से लगाया और कई बार मैंने उसे अपनी बाहों में कसा। इसके बावजूद भी वह अब तक सो गयी होती (क्योंकि नींद की वह बहुत पक्की है) यदि मैंने उसे निम्नलिखित बात न सुनायी होती :

आज से प्रायः छः वर्ष पहले की बात है। मैं अभी अविवाहित था। इस युग में मध्यम श्रेणी के ऐसे व्यक्ति के लिए कहीं कोई रहने को ठिकाना मिल जाए, एक समस्या है। और फिर वह भी दिल्ली में। बड़ी मुश्किल से, रो-धोकर एक कमरा मिला। समूचा मकान एक दूसरे सज्जन ने किराये पर उठा रखा था। कमरा मिला तो उसी की कृपा से। मजे-मजे दिन कटने लगे। उसके बच्चे थे, बीवी थी, सब मुझे अपना समझने लगे। रहते-रहते अब प्रायः छः-सात महीने हो चले थे। एक दिन पता चला कि मालकिन की छोटी बहन आ रही है। उसके प्रति औत्सुक्य होना सहज ही था। फिर एक दिन वह वाकई आ गई। मैले-कुचैले कपड़े, लेकिन रूप निखरा था। सामान वह जो लायी थी, वह थे गन्दी-सी एक गठरी और एक टूटा-सा कनस्तर। इस सामान को जो उठाकर लाया था, वह था उससे भी मैले-कुचैले कपड़ों में एक ऐसा व्यक्ति जिसे पहली नजर में ही देखकर कोई भी कह सकता था कि पागल है। पागल ? जी हां, पागल

कहिए, सांवला कहिए। खैर, जैसे भी हो। चेहरे से ऐसे व्यक्ति की उम्र का अन्दाज लगा पाना तो प्रायः असम्भव-सा ही है, क्योंकि दाढ़ी उसकी काफी बढ़ी हुई थी और बाल भी आधे से ज्यादा पके हुए थे, और फिर ताज़गी का कोई निशान तक न था। दांत भी पीले-पीले थे, टेढ़े-मेढ़े। इस पर कद चाहे पांच फुट हो और चाहे पांच फुट दस इंच, कोई अन्तर नहीं पड़ता, यदि मुझे यह न बताया गया होता कि वह शान्ति का (उस लड़की का यही नाम था) पति है,...मेरे अन्दाज़ से वह चालीस वर्ष का होना चाहिए था, लेकिन बाद में पता चला कि उसकी उम्र तो केवल तीस वर्ष ही है। ऐसा भी अनमेल मेल हो सकता है, इसकी मैंने कभी कल्पना भी न की थी। रेखा ने (मेरी मकान-मालकिन) भी उसका पहले कभी उल्लेख नहीं किया था। अब पता चला कि गरीब मां-बाप की मजबूरी भी क्या कुछ नहीं कर सकती। पांच वर्ष बीत गये हैं, और बीत जायेंगे। आखिर गौरवशील भारतीय नारी ही तो है! मेहनत-मजदूरी करती है, और जो भी मिल जाता है उसे भगवान् का शुक्र करके ले लेती है। यह महोदय हैं, अपने इधर-उधर भटकते रहते हैं, जहां जैसा चला, चला लिया। किसी ने कुछ कह दिया तो कहीं गालियां बरसा दी और कहीं पत्थर। लेकिन हां, बीबी का पीछा नहीं छोड़ते। सदा उसके साथ-साथ लगे रहते हैं। गुस्से में आकर वह कभी हाथ भी उठा बैठती है तो ऐसी मुद्रा बना लेते हैं कि दिल पसीजे नहीं रहता। अब क्या हो ऐसे आदमी का!'

शान्ति से मेरी पहली बात शायद उसके पति को लेकर ही हुई थी। दिल्ली में आ गयी थी, इसलिए अब उसका समूचा रूप निखर गया था, यद्यपि उसके पति के रूप में कोई अन्तर नहीं पड़ा था। वैसे पहले तो प्रायः वह घर से बाहर ही रहता था लेकिन इधर जैसे ही उसे आभास हुआ कि शान्ति मुझ से मिलती-जुलती रहती है, उसने बाहर जाना प्रायः छोड़ सा ही दिया। शान्ति रसोई में है तो वह भी रसोई में, शान्ति बाथ-रूम में जा रही है तो वह भी उसके पीछे-पीछे, शान्ति किसी से बात कर रही है तो वह भी वहीं कहीं अटका खड़ा है। खूब झुंझलाती

थी शान्ति जग भर। मुझे न कोई काम करना हो, तो जैसे किसी की खोज लगा रही हो। ऐसे ही कुछ दिन चलता रहा। हम दोनों के मन में मानो किसी ने चोर सा खड़ा किया हो।

फिर कुछ इत्तफाक ही ऐसा हुआ कि मेरे मालिक-मकान को बाल-बच्चों समेत कहीं जाना पड़ गया। घर में रह गए शान्ति, उसका पति, और मैं। सूबेदार (शान्ति के पति को हमने ऐसा ही नाम दे दिया था, यद्यपि शुरू शुरू में वह इससे चिढ़ उठी थी) की आंख तो अब और भी चौकस हो गई थी। आंगन में वह अब ऐसी जगह बैठता था जहां से वह एक साथ हम दोनों पर निगाह रख सके। पहले तो दो-चार पैसे के लालच में वह हमारा छोटा-मोटा काम कर भी देता था, लेकिन अब तो चाहे कुछ भी प्रलोभन दो, वह अपनी जगह से नहीं हिलता था। शान्ति उसके व्यवहार से अब बहुत परेशान हो उठी थी।

होली आयी और शान्ति और मैंने अपने को एक दूसरे के बहुत करीब पाया। मैंने सूबेदार का मुंह रंगा तो शान्ति की छाती रंग दी, और उस दिन यह सब सहज स्वाभाविक रूप से ही हो गया। मुझे भी उन दोनों ने मिलकर खूब रंगा। फिर सूबेदार की बारी आयी और हम दोनों ने उठाकर उसे पानी के हौद में पटक दिया। पर इससे उसमे जाने कहां का द्वेष उमड़ पड़ा। जहां भी, जैसे भी, उससे बन पड़ा, उसने शान्ति को धर दबाया, और फिर किसी न किसी तरह ठेल कर उसे भी पानी के हौद में दे पटका। इससे शान्ति की गत बहुत बुरी हुई। कोहनियां-कुहनियां तो बेचारी की छिलीं ही, साथ में शरीर के कपड़े भी कुछ क्षणों के लिए अपने स्थान से हट गये। उस समय शान्ति के रंगे चेहरे पर और भी कई रंग आ गये थे। सूबेदार उस समय बुरी तरह हांफ रहा था, और उसके शरीर में कुछ इस प्रकार का तनाव आ गया था मानो थोड़ी देर ऐसे ही रहा तो टूट जाएगा। फिर वह एकाएक मेरी ओर मुड़ा और अपनी आंखों के एक तीर से मेरा उसने सब कुछ भेद दिया।

मुझे उस समय अनायास ही कंपकपी हो आयी थी। शान्ति तब तक पूर्णतः सम्भल चुकी थी। फिर न जाने सूबेदार को क्या हुआ कि वह वहीं बैठ कर घुटनों में अपना सिर देकर कुछ अजब ढंग से रोने लगा। शान्ति और मैं उस समय बिल्कुल विमूढ़ से खड़े थे।

मेरी बात खत्म हो चुकी थी। पत्नी की प्रतिक्रिया जानने के लिए मैंने उसको हिलाया, लेकिन मुझे ऐसे लगा जैसे कि वह जागते हुए भी सो गयी हो।

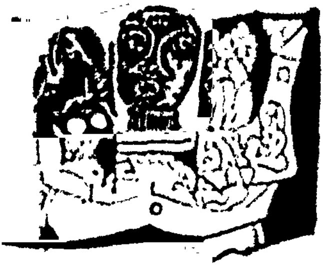

बच्चा

वे तीनों कनॉट प्लेस के कॉरिडोरों में भटक रहे थे, पति, पत्नी और बच्चा। हर दुकान की शो-विंडो के सामने वे कुछ-एक क्षण रुकते, उनके भीतर प्रदर्शित चीजों को थकी हुई आंखों से देखते और फिर घुटे-घुटे से आगे बढ़ जाते। कभी यह भी होता कि भीड़ का रेला उन्हें अपने साथ धकेल ले जाता।

त्योहार का दिन था। हर दुकान पर, हर कोने पर, खरीददार ऐसे टूटे पड़ रहे थे जैसे मक्खियां शहद पर टूटती हैं। लगता था जैसे आज के दिन के लिए ही लोगों ने अपनी सारी पूंजी जुटा रखी थी। जैसे वे अपने आपको लुटा देना चाहते थे। जहां उन्हें एक चीज की ज़रूरत थी, वहां वे दो खरीद रहे थे। बाजार में जैसे पैसे की बाढ़ आ रही थी। कुछ लोग, जो वे खरीदते जाते थे उसे अपनी कारों में जमा किये जा रहे थे। कुछ ने इस काम के लिए छोटे-छोटे मजदूर बच्चों का सहारा भी लिया हुआ था जो अपनी झल्ली में उनके दो-दो, चार-चार 'नग' लादे, उनके साथ टंगे-टंगे से एक दुकान से दूसरी दुकान की ओर घिसटते चले जा

रहे थे। इन चमचमाती कारवालों के उजले, बेशकीमती कपड़ों का कुछ अपना ही रौब था। उनका चटकीलापन जैसे प्रकृति से होड़ ले रहा था। ऐसा निखार दिल्ली पर कभी-कभी ही आता है।

एकाएक बच्चे ने माँ की अंगुली छुड़ानी चाही, "मम्मी, मुझे वो गुब्बारा ले दो।" पत्नी ने गुस्से से बच्चे की ओर देखा और उसके बाजू पर झटका देते हुए उसे घसीटती-सी आगे बढ़ चली। पति ने भी घुड़की भरते हुए से बच्चे की ओर देखा, जिससे उसका अभिप्राय यह था कि भई, अभी तो बाजार में आये ही हैं, और तुमने अपनी फरमाइश शुरू कर दी।

वे कुछ ही कदम आगे बढ़े थे कि बच्चे ने फिर ज़िद की, "पापा, हम कुल्फ़ी खायेंगे, हम रच्छगुल्ले खायेंगे।"

और पापा एकाएक भड़क उठे, "इसकी आदतें दिन-ब-दिन बिगड़ती जा रही हैं। इसको डाटकर रखा करो।"

लेकिन बच्चे की फरमाइश जारी थी, "हमें बूट ले दो न, हमें चमकने वाली च्छैंडल ले दो न! देखो, मेरी च्छैंडल टूट भी गयी है!"

"ले देंगे, ले देंगे, बेटे," पति ने कहा, "तुम इतनी ज़िद न किया करो। ज़िद मुझे बिल्कुल अच्छी नहीं लगती।"

इतने में पत्नी एक हॉकर के सामने रुकी। वह जूड़े के नेट बेच रहा था। "ये नेट इंगलिश हैं," वह कह रहा था, "दो साल तक इनका कुछ नहीं बिगड़ेगा।"

पत्नी ने बिना अधिक सोचे उसमें दो नेट खरीद लिए। हॉकर के पास जूते के फीते भी थे। पति को याद आया कि उसके बूट के फीते टूट रहे हैं, और उसने फीतों के लिए भी पत्नी को पैसे दे देने को कहा। बच्चे का शौक पूरा करने के लिए उन्होंने उसको बालों की सुइयाँ भी खरीद दीं। अब वे तीनों फिर चलने लगे थे।

अब तक वे कनॉट प्लेस के दो चक्कर लगा चुके थे, और तीसरा लगा रहे थे। पत्नी चाहती थी कि उसके लिए एक सफ़ेद कारडिगन

बच्चा

खरीदा जाए जो वह हर साड़ी के साथ पहन सके। तीन साल पहले उसने स्वयं ही एक कारडिगन बुन लिया था जो अब बदरंग हो रहा था। पति चाहता था कि उसके लिए कोट का कपड़ा खरीदा जाए, क्योंकि वह पिछले आठ वर्षों से कोई कोट न बनवा सका था, और उसकी हालत यह थी कि वह सीनों से उधड़ रहा था और उसकी रंगत बेजान-सी दिखती थी। उसमें अब इतना दम भी नहीं रहा था कि उसे पलटवाया ही जाता।

बड़ी मुश्किल से, किसी तरह खींच-तान कर, वे पिछले चार महीनों में साठ रुपये बचा पाये थे। चार सौ में से पच्चीस-तीस तो दफ्तर में ही कट जाते हैं। फिर हर महीने सौ रुपया मकान का किराया, पांच-दस बिजली-पानी। पन्द्रह-बीस बस का किराया, पन्द्रह-बीस जेब खर्चा। पहले उन्होंने सोचा था कि किसी सस्ती सी जगह में रहें ताकि मकान-किराया पचास से ज्यादा न देना पड़े। लेकिन फिर यह सोच कर कि गलत लोगों के बीच रह कर बच्चे पर गलत प्रभाव न पड़े, उन्होंने राजा गार्डन में रहने का निश्चय किया था। फिर बच्चे को भी अच्छे स्कूल भेजना पड़ा। हर महीने उसकी फीस इत्यादि के ही तीस रुपये हो जाते हैं। फिर किताबों कापियों के पैसे अलग, विंटर-समर की ड्रेसेस पर खर्च अलग। पति ने पत्नी को एक बार सुझाया भी था कि बच्चे को म्युनिस्पैलिटी के स्कूल में भरती करवा दिया जाए, आखिर वे भी तो उन्हीं स्कूलों में पढ़े हैं, लेकिन पत्नी राज़ी नहीं हुई थी। उसका कहना था कि एक तो म्युनिस्पैलिटी के स्कूलों में नर्सरी क्लास होती ही नहीं और दूसरे वहां बच्चे की पर्सनैलेटी नहीं बनती। पब्लिक स्कूलों में बच्चे के व्यक्तित्व का सही विकास होता है।

पति, पत्नी की बात सुनकर हंस दिया था और फिर उसने कहा था, "लेकिन तुम्हें पता नहीं हमारे नेता पब्लिक स्कूलों की कितनी निंदा करते हैं ?"

"हां, निंदा तो करते हैं," पत्नी ने तड़ाक से उत्तर दिया था, "लेकिन सबसे ज्यादा उनके बच्चे ही इन स्कूलों में पढ़ते हैं।" और फिर दोनों

एक साथ हंस दिये थे, और उन्होंने भी अपना बच्चा पास ही के एक अंग्रेज़ी स्कूल में दाखिल करवा दिया था जहां उसे 'नमस्ते' की बजाए 'गुड-मार्निंग' करना सिखाया जाता था।

वास्तव में, खर्चे का हिसाब उनका कभी बंध ही नहीं पाया था। हर महीने की पहली तारीख को उन्हें तनख्वाह मिलने का हल्का-सा एहसास भर होता था, वरना हालत वैसी की वैसी रहती थी। वही मकान-किराया, वही राशनवाले के पैसे, वही दूध-खर्च, वही बस भाड़े की जुगाड़, वही बेबी की स्कूल फीस। कभी-कभी तो वे गहरी सोच में डूब जाते थे, क्योंकि वक्त-बेवक्त के लिए उनके पास कुछ न बचता था। और कई चीज़ें तो ऐसी थी जो उनकी सूची से ही निकल चुकी थी, जैसे फल और अंडे। और धीरे-धीरे और कई चीज़ें भी निकलती जा रही थीं। और जो काम बीच में रह जाता था, वह बीच में ही रह जाता था। जैसे, उनके पास एक खिड़की के लिए तो पुराना परदा था, लेकिन दूसरी खिड़की वे ढक ही न पा रहे थे, और रात को सोते समय उस पर एक मामूली सी सफेद चादर ओढा देते थे ताकि 'प्राइवेसी' किसी तरह बनी रहे, यद्यपि उसके महीन तार भीतरी आकृतियों का धुंधला आभास देने को लाचार थे। हां, यह तो गनीमत था कि डाक्टरी इलाज सरकारी नौकरी होने के कारण मुफ्त था वरना बीमारी आने पर जान के लाले पड़ सकते थे। लेकिन अब भी कभी-कभी उन्हें सरकारी डाक्टरों से चिढ़ हो उठती थी। वे (डाक्टर) अपनी तनख्वाहें बढ़वाने के लिए तो नारे लगाते रहते थे और हड़ताल कर देने की धमकियां भी देते रहते थे, लेकिन मर्ज को बहुधा ठीक ढंग से जांच किये बिना ही दवाई लिख देते थे, जबकि उस दवाई को प्राप्त करने के लिए उन्हें कई बार घण्टों लाइन में इन्तज़ार करनी पड़ती थी।

उनके आस-पड़ोस में नित नये डिज़ाइनों की, दिन-प्रतिदिन उठती बिल्डिंगों को देखकर एक दिन पति ने स्वयं ही कहा था, "मैंने भी भी तो यह सरकारी नौकरी, जिससे ठीक से पेट भी नहीं भर पाता, वरना

देखो हमारे इन पड़ोसियों को। कितनी शानदार कोठियां बनवाते हैं!"

और फिर पति-पत्नी देर तक 'चोर-बाजारी' तथा 'घूस-रिश्वत' मामलों पर बातें करते रहे थे।

"तुम्हें याद है वह प्रॉपर्टी-डीलर जिसने हमें यह मकान किराये पर दिलवाया था," पति ने बात शुरू की थी, "उसने कुछ घंटों की मेहनत से ही हमसे कमीशन के पचास रुपये कमा लिए थे, जबकि मैं तमाम दिन दफ्तर में चिपके रहने पर भी डेढ़-सवा सौ रुपये से ज्यादा नहीं कमा सकता। उसकी एक प्लाट की तो बिल्डिंग ही है। अब उसके निचले हिस्से में दुकानें बनवा रहा है, और बाकी हिस्से में वैसे ही किरायेदार बैठायेगा। स्कूटर उसने ले ही लिया है। जल्दी ही कार भी खरीद लेगा। टेलीफोन भी उसके पास है ही। कहता था पहले वह भी सरकारी नौकर था, एल० डी० सी०। मुश्किल से मैट्रिक पास होगा!"

और पत्नी ने उस सामने वाले पड़ोसी की बात कही थी जिस पर दिन-ब-दिन चर्बी चढ़ती जा रही है, 'पता है, यह भी इलेक्शन लड़ रहा है?"

"है!" पति को जैसे बिजली से धक्का लगा, "सच? चमगादड़ की औलाद! जब इस मुहल्ले में आया था तो साला फटीचर-सा लगता था। पिछवाड़े में एक मामूली-सा कमरा ही किराये पर उठा पाया था। फिर इम्पोर्ट लाइसेंस की ब्लैक शुरू की, और अब इलेक्शन! और साला जीत भी जाएगा। हराम के पैसे के बल पर। ऐसे लोगों का पिच्छलग्गू भी काफी मिल जाते हैं। और फिर हमारा रहनुमा बनेगा।"

और बात करते-करते पति में जाने क्यों इतना आक्रोश उमड़ने लगा था कि उसका स्वर बेकाबू-सा हो गया था, "कैसे, कैसे इन हरामजादों से छुटकारा मिलेगा? कब तक, कब तक हम इनके फंदों में लाचार से फंसते रहेंगे?" और उसका मन हुआ था कि वह रिवॉल्वर लेकर इन सब को भून डाले। लेकिन शीघ्र ही शान्त हो गया था—जैसे ज्यादा भभकने वाली आग जल्दी ही राख बनने लगती है—और फिर पत्नी से वैसे ही,

समभाव से, बातें करने लगा था।

पति-पत्नी ने ऐसे कई और धन्धों की भी चर्चा की थी जिनमें 'मार्जिन ऑव प्राफिट' काफी होता है और 'इनवेस्टमेंट' तकरीबन कुछ भी नहीं। जैसे, 'लक्की स्कीमें' चलाना और 'चिट-फंड' खोलना, और समय के शिकार लोगों को अपने चंगुल में फंसाना और बाद में दीवाला पीट देना। फिर बच्चों को विदेश भी भेजो, 'फॉरेन एक्सचेंज' भी कमाओ और कोई इंडस्ट्री भी खोलो।

बुझती राख में जैसे कोई चिंगारी फिर चमक उठी थी। पति ने कहा था कि उससे तो रेढ़ी लगानेवाले ही अच्छे हैं, जो रात को बीस-पच्चीस बनाकर घर लौटते हैं, जब कि वह एक 'क्वालिफाइड जर्नलिस्ट' होते हुए भी सिर धुनने के अलावा और कुछ नहीं कर सकता। बेशक, सरकार महंगाई-भत्ता बढ़ाये जा रही है, लेकिन इधर महंगाई-भत्ता बढ़ाने की खबर अखबार में छपती है और उधर बाजारवाले जैसे पहले से ही राह देखते रहते हैं, और एक-एक चीज़ का दाम बढ़ा देते हैं।

चलते-चलते पत्नी एकाएक रुकी। "अच्छा आप ही अपना कोट सिलवा लीजिए," उसने कहा, "मेरा क्या है, मैंने कोई दफ्तर थोड़े ही जाना है!"

लेकिन पति भी परोपकार की भावना से विह्वल हो गया था, "नहीं जी, यह कैसे हो सकता है कि आदमी तो अच्छे कपड़े पहने और औरत और बच्चे चीथड़े।"

"लेकिन आपने तो, जब से शादी हुई है, कोई गरम कपड़ा बनवाया ही नहीं। ज़रा अपने कोट की हालत तो देखिए?"

पति हमेशा सूली पर चढ़ता आया था, इसलिए उसे अब भी इंकार नहीं था, यद्यपि अब पत्नी भी उसके साथ लटकने को तैयार थी।

इतने में बच्चा एकाएक फिर चिल्ला उठा, "मम्मी, मम्मी, बोह च्छूट!" और उसने शो-विंडो में लटके एक बेबी-सूट की ओर इशारा किया। "देखो न, मेरा च्छूट कितना गंदा हो रहा है!"

सुनकर पत्नी एकाएक कातर हो उठी। उसे याद आया कि उसने बच्ची से वायदा किया था कि बाजार से वह उसे एक नया सूट जरूर ले देगी, क्योंकि उसके पहले सूट में जगह-जगह छेद हो रहे हैं।

लेकिन पति को ऐसे लगने लगा था जैसे उसके भीतर कुछ तन-तन कर ऐंठने लगा है। "हाँ, ले देंगे, ले देंगे, कह तो दिया ले देंगे," वह गुस्से से तमतमा-सा उठा। "इसे हमेशा अपनी ही लगी रहती है," और उसी गुस्से में उसने उसके दो-तीन जड़ दीं।

बच्चा जोर से रोने लगा था। इस डर से कि लोग क्या कहेंगे, उसने उसे चुप कराने के विचार से गोद में उठा लिया और फिर कंधे से लगा कर थपथपाने लगा।

ऐसे ही ये कुछ देर तक चलते रहे। फिर पत्नी ने कहा, "चलो हटाओ फिर कभी खरीदेंगे," और पति ने मौन स्वीकृति दे दी।

बच्चा कंधे से लगा-लगा अब तक सो चुका था।

क़हक़हे

क़हक़हे ! और कहक़हे ! हा···हा···हा···हा······। और हा···हा हा ··हा की यह ध्वनि कुछ इस प्रकार खिचती चली जाती है कि हसने और चीखने मे कम ही अन्तर रह जाता है।

उस शाम भी कहकहो की खूब महफिल जमी। कहक़हे ! और कहकहे ! हा...हा...हा...हा···

सबने एक-एक पैग लगा रखा था और दूसरा पैग गिलासों मे उडेला जा रहा था। बाहर जोरो की बारिश हो रही थी, और रेस्ट हाउस के बरामदे से लम्बे-लम्बे देवदारुओ को भिगोती बारिश कुछ अजब ही मस्ती बिखेरती दीख रही थी। और फिर चारो तरफ पहाड़ ही पहाड़ !

इस वातावरण का प्रभाव शायद डिप्टी डायरेक्टर श्यामकुमार पर सबसे अधिक था। अपने गिलास को अपने होठों से छुआते हुए बोले, "यारो, ऐसा पीना भी क्या हुआ ! ये ऊचे-ऊचे पहाड़, यह चारो ओर सब्जाज़ार, ये झर-झर करते झरने, ये शोर मचाती सड़कें, और हमारी आगोश खाली हो !"

श्यामकुमार की बात सुनकर एक बार फिर कहकहे लगे। सबने उनकी जिन्दादिली की दाद दी, और साथ-साथ उनके शायराना अन्दाज की भी।

डाक्टर खन्ना भी अपना जाम पीते चले गये थे। उनकी आंखों में सुरूर अभी आ ही रहा था। अपनी जेब को टटोलते हुए उन्होंने एक पर्चा निकाला, और बोले, "लो सुनो, मैं तुम्हें सुनाता हूँ आज मॉडर्न पोयट्री। क्या याद करोगे यह आर्टिस्ट भी।" और उन्होंने महात्मा शान्तिस्वरूप, पत्रकार एवं स्थानीय प्रमुख व्यापारी की ओर देखा। "हम तुम्हें तब मानें यार, अगर यह पोयम इनकी डिक्शनरी में आ जाए।" और उन्होंने कविता पढ़नी शुरू की। सब वाह-वाह कर उठे। कविता का शीर्षक था "कृत्रिम गर्भाधान।" अभी तक कवियों ने प्रायः मानव-मानवी का दुःखड़ा ही रोया था, लेकिन किसी ने गाय-भैंस जैसे पशु के उद्‌गारों को व्यक्त नहीं किया था। ओ रे विज्ञान! जब मानव-मानवी एक-दूसरे के बिना अधूरे है, तब गाय-भैंस ने ही क्या दुष्कर्म किया है कि उनको एक-दूसरे से वंचित रखा जाए।

इस बार जो क़हक़हे उठे उनमें रस भी लिपटा हुआ था। "ठीक है, ठीक है, और हो जाए, एक और हो जाए।" सबने एकसाथ फरमाइश की।

अब तक डाक्टर खन्ना के सरूर में कुछ अज़ाफ़ा हो चुका था, यद्यपि तीसरे पैग के लिए भी उनको उकसाया जा रहा था। लेकिन पैग लेने से पहले उन्होंने एक और कविता पढ़ना ही ठीक समझा और इसके लिए ज़ोर से उन्होंने अपना गला साफ किया। कविता अतुकान्त थी :

"ए·········

"बी·········

"············"

और इस प्रकार 'ज़ेड' तक अक्षरों का सहारा लेकर उन्होंने अपनी आधुनिक कविता द्वारा काम-शास्त्र की बारीकियों को मात कर दिया।

महफिल यह कविता सुनकर लोट-पोट हो गयी। मि० पिताम्बर की आखों में तो आंसू ही आ गये।

"बहुत दौरे किये, लेकिन याद रहेगा, भई, यह दौरा भी," ऐक्सीयन शिवशंकर ने कहा। "काश! अब पहलेवाला जमाना ही नहीं रहा। वह भी कोई *जमाना था। अब तो यहां के छोकरों को इतनी होश आ गयी है* कि क्या मजाल उनकी किसी औरत से कोई मजाक भी कर जाये। वरना पहले तो वोह मजे थे कि बस पूछो नहीं। ज़रा चौकीदार को कह दो और सब हाजिर! हां, एक बात का ज़रूर ख्याल रखना पड़ता था। कहीं गलती से किसी की बीवी पर हाथ डाल दिया तो खैर नहीं। *बहन-बेटी की इनको कोई चिन्ता न थी।"*

ऐक्सीयन शिवशंकर के इस स्वीकारात्मक ढंग ने वातावरण में एकाएक पुलक भर दी। उनको सुनकर अब सब अपनी-अपनी आपबीतियां सुनाने लगे थे।

डिप्टी डायरेक्टर श्यामकुमार ने बताया कि उनकी पहली पोस्टिंग *बहुत मामूली थी। केवल चालीस रुपया माहवार से उन्होंने शुरू किया* था। लेकिन अंग्रेज अफसर थे, अच्छा काम करो तो झट मेहरबान हो गये। और आज ये मिनिस्टर?"

मिनिस्टरों का जिक्र शुरू हुआ तो डाक्टर खन्ना भी अपने बहाव में बह गये। "यार मत पूछो इन लोगों की," उन्होंने कहना शुरू किया, *"मैंने कलकत्ता से एम. डी. पास किया। मेडिकल कॉलेज में असिस्टेंट* प्रोफेसर लगने का चांस था। लेकिन उधर मिनिस्टर साहब डाक्टर महाजन को ही इस पद पर लगाने पर तुले हुए थे। एक दिन मैं उनसे मिला और गुज़ारिश की कि जनाब मैं एम. डी. हूं और वह एल. एम. एस. एफ. है। भला वह इस पोस्ट के काबिल कैसे हुआ? बोले, क्यों, डिग्री उसकी ज्यादा है कि तुम्हारी? मैंने अपना माथा ठोका, और........"

बारिश अब तक कुछ थम चुकी थी। महात्मा शान्तिस्वरूप उठने को हुए, साथ में मि० पीताम्बर भी, लेकिन एक्सीयन शिवशंकर और डिप्टी डायरेक्टर श्यामकुमार ने उन्हें कंधों से भींच कर वहीं उनकी कुर्सियों पर जमा दिया। "कैसे चले जाओगे जी तुम, बिना अपनी कुछ सुनाये," एक्सीयन शिवशंकर ने मस्ती बिखेरते हुए कहा।

वाकई, मि० पीताम्बर अब तक प्रायः चुप ही बैठे रहे थे, यद्यपि कहकहों में योग वह पूरा देते रहे थे। वन-विभाग में पहले-पहल एस. डी. ओ. नियुक्त हुए उन्हें अभी एक वर्ष ही हुआ था। ताजा उम्र, ताजा जवानी। बोले, "तो लो, हम भी सुनाते हैं कुछ," और सब एकचित्त हो उनको सुनने लगे।

"मेरी कहानी का टाइटल है 'कैम्प अरेंजमेंट'," उन्होंने किंचित गंभीरता से शुरू किया।

"लेकिन यह 'कैम्प अरेंजमेंट' है क्या बला ?" एक्सीयन शिवशंकर ने पूछा।

"वाह खूब, ऐक्सीयन होकर भी इसका अर्थ नहीं जानते ? 'कैम्प अरेंजमेंट' वन-विभाग की एक खास टर्म है। जब कभी कोई बड़ा अफसर अथवा मिनिस्टर आ रहा हो तो उसके लिए ठहरने से लेकर खाने-पीने तक सब प्रकार की व्यवस्था करनी होती है। इसको कहते है 'कैम्प अरेंजमेंट'।" और उन्होंने अर्थपूर्ण ढंग से सब की ओर देखा। अपनी बात जारी रखते हुए बोले, तो सुनिये। हमको खबर मिली कि हमारे मिनिस्टर साहब आ रहे हैं और उनके लिए 'कैम्प अरेंजमेंट' करना है। बीहड़ जंगल, और वहाँ सब कुछ जुटाना। खैर, बुलाया मैंने रेंजर को और कहा कि सब इंतजाम टिच होना चाहिए। रेंजर अपने भरोसे का आदमी है। बोला, आप चिन्ता न करें, सब ए-वन होगा। रेंजर ने फॉरेस्ट गार्ड्स को बुलाया और बताया कि मिनिस्टर साहब आ रहे हैं, और उनके लिए 'कैम्प अरेंजमेंट' करना है। मिनिस्टर साहब ने तीसरे रोज आना था। इसलिए

समय खासी था। फॉरेस्ट गाइर्स ने जगल का कोना-कोना छान मारा, और जहां से जो मिला जुटा गए। और फिर बेचारे जगल के लोग हैं, थोड़ा-सा डराया-धमकाया कि जो कुछ है सब हाजिर। ऐसे मौको पर हम भी जरा ढीले पड जाते हैं। काट में जितनी लकड़ी उनसे बन पड़े। एक बार तो मुझे इतना बढ़िया घी खाने को मिला कि क्या बताऊँ।"

घी का नाम सुनकर बाकी लोगों के मुँह में भी जैसे उसका स्वाद आ गया। 'यार, हो सके तो हमें भी कुछ खिलाओ," सबने एकसाथ याचना की।

लेकिन मि० पीताम्बर अपनी कहानी कहने की धुन में थे। कहते गए, "मा पहुँचे मिनिस्टर साहब तीसरे दिन। साथ मे खासा लाव-लश्कर था। 'क्या तैयार करवाएं, साहब ?' मैंने झिझकते-झिझकते मिनिस्टर के पी ए. से पूछा। 'कुछ खास नही,' पी ए. साहब बोले, 'मिनिस्टर साहब बहुत सादा खाना पसद करते हैं। लेकिन आपके यहा सुना है जगली मुर्गे खूब मिलते हैं।' मैंने कहा, 'बस हुक्म चाहिए।' 'और थोड़ा मीट भी बन जाए,' वह बोले, 'और हर्ज नही अगर मछली भी मिल जाए तो।' मैंने कहा, 'सब कुछ हो जाएगा।' 'और हां, कुछ दही का जरूर इतजाम करना। साहब का स्टमक जरा ठीक नही रहता।' उनके चेहरे पर चिकनाहट थी। मैंने कहा, 'दही मिलना तो यहा मुश्किल है, लेकिन कोशिश पूरी करूंगा।' 'अच्छा, दही न हो तो दूध ही सही,' उन्होने रास्ता बताते हुए कहा, 'रात को सोते वक्त दूध से सब ठीक हो जाएगा।' दूध के नाम पर मुझे कुछ असमजस हुई कि जगल मे इतना दूध कहा से आयेगा। लेकिन मैंने न नही कही।"

"अरे वाह, नौकरी है तो जगल की है, बाकी सब·········," डिप्टी डायरेक्टर श्यामकुमार ने टिप्पणी की। लेकिन ऐक्सीयन शिवशकर का मजा खराब हो रहा था। बोले, "यार, कहते जाओ।"

मि० पीताम्बर को गर्व हो रहा था कि आज का मैदान उन्हीं के

ख़ास रहेगा। बोले, "तो सुनते जाइए," और उन्होंने बात जारी रखी :

"दस्तरख्वान बिछा देखकर मेरी अपनी तबीयत खुश हो रही थी। मिनिस्टर साहब की आंखों में भी चमक आ गयी। बढ़िया से बढ़िया गेम, कस्टर्ड, चीज, पोर्क, फिश, जंगली मुर्गा, मीट..........। खूब डटकर खाया मिनिस्टर साहब ने, और सो गए। सुबह नाश्ते पर भी एक से एक बढ़िया चीज। बड़े खुश नजर आ रहे थे। बोले, 'शाबाश। इतना शानदार वर्कर मैंने पहले कभी नहीं देखा। हमें जरूरत है तो ऐसे वर्कर्स की।' मैंने कहा, 'सब आपकी बदौलत है। मेरी अभी उमर ही क्या है'।"

'तो भाई, तुमको प्रमोशन नहीं दी उसने ?" महाशय शान्तिस्वरूप ने पूछा।

"अरे यार, पहले बात तो खत्म करने दो," मि० पीताम्बर ने अधीर होते हुए कहा। उसको डर था कि बात क्लाइमेक्स तक पहुंचने से पहले ही कहीं बीच में न रह जाए।

"तो फिर जानते हो क्या हुआ ?" उसने सब की ओर प्रश्नसूचक दृष्टि डालते हुए कहा। और कहता गया :

"जब चलने को साहब तैयार हुए तो बोले, 'बिल लाओ।' मैंने कहा 'जनाब की मेहरबानी चाहिए।' झट से उनके तेवर चढ़ गये। बोले, 'तो क्या मुझे यह सब मुफ्त खिला रहे थे ? मुझे करप्ट करना चाहते हो ?' मैं तो ऐसे हो गया जैसे मुझ में दम ही न हो। हाथ-पांव कांपने लगे। मुंह घबराहट से खुश्क हो गया। हलक भी सूख गया। मैंने मिन्नत की, 'हुजूर, आपका ही खाते हैं। आपके बच्चे जैसा हूं। एक टाइम आपने खा लिया तो क्या फर्क पड़ गया!' बोले 'मैं यह सब नहीं जानता। बिल लाओ। मुझ से नहीं लोगे तो अपने स्टाफ से खाओगे। जंगल बेचोगे, गरीबों को सताओगे।' मै अब क्या करता! मैंने रेंजर की ओर देखा। रेंजर ने फॉरेस्ट गार्डस की ओर। सब अटेनशन हो रहे थे। जरा सा इशारा हो कि सैल्यूट मारें।"

"माई गॉड, ऐसा बढ़िया मिनिस्टर !" एक्सीयन शिवशकर ने गद्गद् मे होते हुए कहा ।

"जी हा, और क्या आपके मिनिस्टर जैसा है हमारा मिनिस्टर ?" मि० पीताम्बर बोले । और फिर कहने लगे, 'मैं और मेरे आदमी वहा से हट गये, ताकि आपस मे मशविरा कर सकें । अन्त मे रेंजर ने सुझाया कि आठ आने का बिल पेश किया जाए, और वैसा ही किया गया । बिल देखकर मिनिस्टर साहब बहुत खुश हुए । झट से जेब मे आठ आने निकाले और रेंजर को थमा दिए ।"

"आठ आने !"

"जी हा, आठ आने !"

और इस बार जो कहकहा लगा उसकी हा-हा-हा-हो-हो-हो कुछ इस प्रकार की थी कि हसी की अपेक्षा वह चीख अधिक सुन पडती थी ।

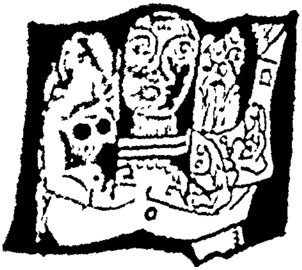

विरोध

कुत्ते भौंकते हैं तो लगता है जैसे सामने के पहाड़ों से तड़पते प्रेतों की चीखें टकरा कर लौट रही हों। तब जैसे मेरी एकाएक तंद्रा टूटती है, या जैसे मेरे मृत-प्राय शरीर में एकाएक स्फूर्ति आ जाती है। तब पहाड़ मुझे एकबार फिर रहस्यमय लगने लगते हैं। लेकिन यह सब क्षणिक ही होता है, क्योंकि तुरन्त बाद ही मेरा शरीर फिर कड़ा पड़ने लगता है।

मुझे नहीं पता था कि एक वर्ष में ही मेरे भीतर इतना परिवर्तन हो जायेगा, कि एक वर्ष में ही शरीर ऐसे कड़ा पड़ने लगता है और उसके भीतर सब कुछ मरने लगता है। अब मेरे लिए उन दूध-सी सफ़ेद एवं चमकीली हिम-शिराओं का कोई महत्व नहीं है, न ही मेरे लिए पहाड़ों की चोटियों पर तैरते या उनसे एकस्थ हुए वे रूई-से मुलायम बादल ही कोई माने रखते हैं। अब तो पहाड़ों में यदि मुझे कुछ दिखाई देता है तो वह केवल उनकी वही ऊबड़-खाबड़ है अथवा उनका वही भुतवापन। अप्रैल के महीने में जब यहाँ नयी-नयी चिड़ियाएं आयेंगी, तो उनको देखकर मेरे दिल में वह हुमक नहीं होगी, न ही अपने गदराये सीने पर छोटे-छोटे

प्यारे मुन्नाजी, सदा खुशी-सी दिखनेवाली नई औरतों को देख कर मेरे अन्दर कोई कुंठा होगी। अब मुझे मेलों में ढोल की थाप पर बेतरतीब से अपने हाथ-पांव फेंकने के सिवाय भी पसद नहीं। इन सब को देखता ज़रूर हूं, लेकिन ऐसे ही अनमना होकर जैसे कोई थका हुआ सरकारी कर्मचारी अपनी फाइलें देखता है।

लेकिन शरीर के बड़े होने की इस प्रक्रिया का मुझे सुबह के वक्त ही ज्यादा भान होता है। तब मैं कुम्भ-सा पड़ा सीधे लेटे रहता हू, ऐसे ही जैसे जब किसी को बीती रात के सपनों की खुमारी ने घेर रखा हो। फिर इधर उधर की सब बातें मेरे दिमाग में घुमड़ने लगती हैं। सपने भी फिर ताजा होने लगते हैं। मुझे लगता है जैसे मुझे एक पतले-से सांप ने काट लिया है। फिर मुझे लगता है जैसे एक बहुत बड़े बनमानुस ने मुझे अपनी मुट्ठी में कस लिया है। फिर तुरन्त ही वह सांप आदमी की शक्ल अख्तियार कर लेता है। ताज्जुब, यह आदमी और कोई दूसरा नहीं, मेरा अरदली ही है। दुष्ट! मेरे खिलाफ़ बनाम चिट्ठियां भेजता रहा। लेकिन मुझे उसके प्रति कोई गिला नहीं। मैं अभी मरा थोड़े ही हूं। बल्कि अब तो मैं उससे बड़े मान-मनोबल से बातें कर रहा हूं। अरे, यह तो फिर सांप बन गया! और अब तो सांप ने अपने मुंह में बीड़ी भी ले ली है। हूँ-ऽ-ऽ-ऽ! यह तो एक सांप नहीं कई हैं। सभी के मुंह में बीड़ियां हैं। खूब फूक-फूक कर पी रहे हैं और धुआं मुझ पर छोड़ रहे हैं। खुदाया! इतना घना धुआं है कि मेरा दम घुट रहा है। अरे···र रे···यह मैं अब किस की गिरफ्त में आ गया? और उसी गिरफ्त में मैं पूरे का पूरा ऊपर उठ गया हूँ। यह तो वही बनमानुस है। उसने मुझे अपनी मुट्ठी में कस रखा है। अब वह मुझे और-और कसे जा रहा है। मुझे लग रहा है जैसे मैं निचुड़कर टिप-टिप टपक रहा हूँ। "ऊँह, वाहियात!" वह अपने खास अंदाज में चिंघाड़ता है और मुझे धम से जमीन पर पटक देता है। मुझे लग रहा है कि मेरे हाथ-पांव टूटकर अलग-अलग जा गिरे हैं और मैं बिखर गया हूँ।

विरोध

"क्यों, ज्यादा चोट तो नहीं आयी ?" वह अब मुझ से अपनी हस्ब की शायस्तगी दिखाते हुए पूछ रहा है, और मैं चकित हूँ यह देखकर कि क्या आदमी वाकई वनमानुष से अवतरित हुआ है ? आदमी ? नहीं, नहीं, मेरा बॉस ! 'जनाब मुझे बख्शिये, बख्शिये ! मैं चिल्लाता हूँ, मैंने तो कभी कोई कसूर नहीं किया। मैं तो हमेशा ऐसे ही चक्कर में आ जाता हूं। लोग मुझे ऐसे ही फांस लेते हैं। आप मुझे एक मौका तो दें। आपको जो चाहिए, मैं हाजिर करूँगा। पैसा चाहिए, पैसा दूंगा। औरत चाहिए, औरत दूंगा। लेकिन मुझे खुदा के लिए बख्श दीजिए। भगवान् के लिए मुझे ऐसे यातना न पहुंचाइए।"

ओ, ये स्वप्न भी कितने भयावने हैं ! मैं कैसे पसीना-पसीना हो रहा हूँ। कैसे मेरे शरीर के कांटे खड़े हो गये हैं ! लेकिन मैं अपने आपको व्यवस्थित करने की कोशिश करता हूँ। "नहीं, मुझे इतना परेशान नहीं होना चाहिए," मैं अपने आपको सांत्वना देता हूँ, "ऐसे ही सब चलता है। हर दफ्तर की यही हालत है। हर दफ्तर में ऐसे ही साजिशें होती हैं। हर दफ्तर में ऐसी ही गुटबंदियां हैं।" लेकिन मेरे मन की हालत सुधरती नहीं। मुझे यह नौकरी छोड़ देनी चाहिए, मैं अपने से कहता हूँ। ऐसा काम करें ही क्यों जिसमें खुद को ही विश्वास न हो ? फिर मुझे अपने मैनूअल (निर्देश-पुस्तिका) की याद आती है, मैनूअल फॉर पब्लिसिटी ऑफीसर्ज़। तुम मसीहा हो, इस मैनूअल में लिखा है, पब्लिसिटी ऑफीसर्ज़ नये युग के मसीहा हैं। योजनाओं का संदेश दूर-दूर तक फैलाओ, इसमें बार-बार आग्रह किया गया है। लोगों को अब ग़फलत की नींद से जगा दो। उनको हर काम में सक्रिय योग देने के लिए प्रेरित करो। लोगों को पता होना चाहिए कि अब वे नये भारत के बाशिंदे हैं, भारत जो जाग उठा है। जागरण की यह मशाल अब बराबर जलती रहनी चाहिए। चारों तरफ उजाला ही उजाला भर दो नयी सुबह के उजाले की तरह।

क्या छोटे-छोटे, लिपे-पुते वाक्य हैं ! लिपे-पुते वाक्य ! यद्यपि एक

समय इनको पढ़ते ही आंखों के सामने एक विशाल दृश्य खिच आता था, बड़े-बड़े बांधो का दृश्य, जिनके पीछे अटा पानी समुद्र-सा दिखता है। बड़े-बड़े बांध, जिनका पानी खेतो को पूरी तरह सींच देगा। बड़े-बड़े बांध, जिनके पानी से बिजली पैदा होगी। बड़े-बड़े बांध जिनके पानी से चमक पैदा होगी, चमक जो चारों तरफ, हर चेहरे पर नजर आयेगी। एक बांध उठता है··· अपने अक में एक समुद्र को समोये हुए, फिर दूसरा बांध उठता है, फिर तीसरा, फिर··· । बांध पर बांध उठ रहे हैं, उनसे बिजली भी पैदा हो रही है, लेकिन किसी भी बांध से चमक पैदा क्यो नहीं हो रही ? इंसानी दिल का चिराग जाने उनसे क्यो रौनक नही हो पा रहा ! शायद इस चिराग मे तेल नही है। शायद इस चिराग मे बत्ती नही है। शायद इसकी चिमनी ही कालिख मे अटी पड़ी है। तब इसमें से चमक दिखे भी तो कैसे !

ओह, ये दुःस्वप्न मेरा पीछा क्यों नही छोड़ रहे ! मैं तो अब ऐंठ-ऐंठ कर टूटने को हो रहा हूँ। "बस, बस बहुत हो लिया," मैं अपने को समझाता हूँ। "नहीं, यह मेरी हृदय-रेखा का ही कसूर है," मुझे एक सामुद्रिक की बात याद आती है। लेकिन उसने यह भी तो कहा था, "मैं दावे के साथ कहता हूँ कि आपकी जिंदगी में अब एक मार्के की तबदीली आयेगी !" मार्के की तबदीली ! खूब ! लेकिन मेरी जिंदगी मे क्या तबदीली आ सकती है ? कभी किसी ने क्या फीनिक्स को बदलते देखा है ? मैं एक फीनिक्स हूँ, जिसे मरकर भी जिन्दा होना है। मुझे तो अभी बार-बार मरना है, और बार-बार जिंदा होना है। आशा का संदेश जो पहुंचाना है लोगों तक, चाहे मेरे दिल मे कोई आशा न हो !

"हिम्मत मत हारो भाई, हिम्मत मत हारो।- अभी भविष्य तुम्हारे आगे है," मैं अपनी दिलजोई करता हूँ। लेकिन जब मैं अपनी आंखें मूंदता हूं तो वही दृश्य मेरे सामने घिरने लगते हैं, मेरे अधीनस्थ कर्मचारियों के दृश्य। मैं देखता हूँ कि मेरे सब कर्मचारी मेरे चारों ओर घेरा-सा डाले खडे हैं। "हमको अपने साधनों का पूरा पूरा उपयोग करना चाहिए," मैं

विरोध

उनसे कह रहा हूं, "कोई चीज भी बिना उपयोग में आये नहीं रहनी चाहिए। अब किसी गांव में पहुंचो, एम्प्लीफायर तथा माइक बिल्कुल तैयार रखो। एक-एक व्यक्ति तक हमारे कार्यक्रम की खबर पहुंचनी चाहिए। हमें दूर-दूर तक मार करनी चाहिए। फिल्में भी इस क्रम में हों कि……"

नहीं, उनको ये हिदायतें अच्छी नहीं लग रही हैं। वे मेरी ओर देखने की बजाए इधर-उधर देख रहे हैं, जैसे वे भीतर-ही-भीतर अपने से संघर्ष कर रहे हों।

"यह एलान करने का काम तो बहुत ही घटिया है," मेरा सहायक अपनी टाई की गांठ ठीक करता है. "हम सरकारी कर्मचारी हैं, कोई भाड़े के टट्टू नहीं," वह अपने व्यक्तित्व का प्रदर्शन करता हुआ-सा कहता है।

इससे ड्राइवर की हिम्मत भी बंध गयी है। 'क्या मिट्टी फांकना ही हमारे भाग्य में बंधा है?" वह कुछ शिकायताना अंदाज में कहता है, "और जनाब, आप यह तो जानते हैं कि जहां तक हो सके पक्की सड़क पर ही रहना चाहिए। बहुत इंटीरिअर में जाने से गाड़ी की लाइफ आधी रह जाएगी।"

"और हम ही क्यों मरें जब कि सारी दुनिया मजे उड़ाती है?" मेरा सहायक अपनी नयी-नयी, बिना सलवटोंवाली, टेरीलीन की पैंट-बुशर्ट पर एक सरसरी नजर डालते हुए अपने उसी हवाई अंदाज में कहता है. "हम मर गये तो सरकार हमारे लिए राजघाट तो नहीं बनायेगी।… फिल्म-शो तो फिल्म-शो है। चाहे आप उसमें दस डाक्यूमेंट्रीज़ दिखायें या एक। भाषण, भाषण ही है चाहे आप उसमें एक शब्द बोलें या दस। मीटिंग, मीटिंग ही है चाहे आप उसमें दस आदमी जुटायें या दस हज़ार। और फिर आप तो जानते ही हैं, आजकल आंकड़ों का ज़माना है। हमारी संसद को आंकड़े ही तो चाहिएं।"

मैं बिल्कुल चुप हूं। मेरी हिम्मत मुझे जवाब दे चुकी है। दरअसल

मुझे हमेशा यही एहसास रहा है कि वह मेरे चीफ का आदमी है, और भिड़ के छत्ते में हाथ डालकर मैं पहले ही मजा चख चुका हूं।

…एकाएक मेरी आंखों के सामने एक चित्र उभरता है। उसके रंग वैसे अब कदरे फीके पड़ गये हैं, लेकिन समय के साथ रंगों की यह हालत हो जाना स्वाभाविक ही है, यद्यपि उसकी अनुभूति की तीव्रता अब भी प्राय. वैसी की वैसी ही है। यह एहसास कुछ ऐसा ही है जैसे उस भक्की की याद करके होता है जो अपने पड़ोसी के जलते मकान की आग पर अपने हाथ ताप रहा था…उन दिनों हमें एक विशेष काम सौंपा गया था, और हम उसी के लिए दौरे पर निकले थे। देखता हूं कि गाड़ी एकाएक खड़ी हो गयी है। ड्राइवर का कहना था कि ब्रेक-डाउन हो गया है। स्टाफ के सभी लोगों ने खूब फुर्ती दिखायी और खैर, गाड़ी चलने लायक हो गयी। लेकिन जब तक गाड़ी तैयार हुई तब तक अंधेरा भी खूब घना हो चुका था। मंजिल पर पहुंचे तो देखा कि आदिवासियों का एक बड़ा हुजूम हमारी इन्तजार कर रहा है। फिल्म-शो शुरू हुआ। चारों ओर खुशी के मारे लोग लहकते-से नजर आये। 'आदिवासी, हमारे मूल निवासी, आदिवासी, हमारी संस्कृति के सरक्षक…आदिवासी, धरती के बेटे…,' हमारे प्रोजेक्टर की मशीन बोले जा रही थी,' सरकार ने उनके विकास के लिए अब बहु-उद्देश्य विकास-खण्ड खोल दिये हैं।'

मैं नहीं जानता किसके कितना पल्ले पड़ा, लेकिन उस स्वर से सब आश्वस्त-से हुए दिख रहे थे। सब में जैसे नयी जान आ गयी थी।

फिर मेरा वह सहायक जो प्रोजेक्टर चला रहा था, एकाएक घबराया-सा उठ खड़ा हुआ। "प्रोजेक्टर चल नहीं रहा," उसने मासूमियत से कहा।

एक क्षण भी नहीं हुआ होगा कि बात चारों ओर फैल गयी।

"ये आंखों में धूल झोंकते हैं," कोई बड़बड़ाया।

"जनता के पैसे की बरबादी है," वहां का एक नेता आपे से बाहर हुआ जाता था।

चारों ओर कुछ इसी प्रकार की आवाजें सुनायी पड़ने लगीं। आवाजें,

और चालाकों ! फिर एकाएक एक पत्थर आ पड़ा, और सीधे प्रोजेक्टर को ही आ लगा। एक पत्थर के बाद दूसरा पत्थर। यह सीधे प्रोजेक्टर-चालक को लगा, और वह लहूलुहान हो गया। उसके सिर में बहुत जोर की चोट आयी थी। एक बार उसने उठने की कोशिश की और फिर वहीं गिर। लेकिन हजूम पागल हो चुका था। "मार दो मार दो इसे," वे सब चिल्ला रहे थे।

होते-होते यह खबर हमारे मुख्यालय तक भी पहुंच गयी। मुझे सारे हंगामे के लिए जिम्मेदार ठहराया गया और मेरी जवाब-तलबी की गयी कि क्यों न मुझे निलंबित कर दिया जाये। मुझे जैसे पगलाये हुए-से देखने की बीमारी हो गयी थी। मुझे कोई शब्द भी न सूझते थे। और फिर मेरे लिए कोई बोलने वाला भी तो न था। वैसे मैं किसी का आदमी हूं भी नहीं। मुझ पर इलजाम ये लगाये गये थे कि मेरे होते हुए सरकारी सामान को नुकसान पहुंचा है, एवं मेरे स्टाफ के एक आदमी को चोटें भी आयी हैं। मैं अजब गोरख-धंधे में फंस गया था। खैर, मैं जवाब-देही के बारे में तो मस्त रहा, लेकिन मैंने एक अपील जरूर भेजी। मेरी अपील थी कि मुझे मुख्यालय बुला लिया जाये और मुझे कुछ ऐसा काम सौंपा जाये जिस में सत्य को इस तरह तोड़-मरोड़ नहीं दिया जाता। मैंने उत्तर की प्रतीक्षा की और फिर एक और अपील भेजी, फिर एक और अपील, लेकिन उससे हमारे आकाश के देवता कतई प्रभावित न हुए। मेरे लिए अब कोई रास्ता न था। सब गूंगे-बहरे हो गये दिखते थे। मैं हमेशा आतुर रहता कि कहीं से तो कुछ सुनने को मिले, लेकिन कहीं से कोई शब्द नहीं। जब कोई उम्मीद न रही तो एक पत्र आया। मेरा दिल चलते-चलते जैसे एक क्षण के लिए रुक गया। एक बार पढ़ने से मुझे उस पर विश्वास न हुआ। मैंने फिर पढ़ा। मुझे स्थानान्तरण का आदेश मिला था, दूर-दराज के पहाड़ों में, यानी जहां मैं अब हूं।

पहाड़, मेरे सपने ! किसी समय इन्हीं पहाड़ों के साथ मेरा मन

कितना जुड़ा हुआ था। लेकिन अब ? नहीं, अब मुझे पहाड़ों से कोई उन्स नहीं। अब मैं पहाड़ों के इर्द-गिर्द कोई सपने नहीं बुनता। पहाड़ ! अब तो मुझे लगता है जैसे वहां मृतात्माएं रहती हों, जैसे वहां प्रेतों का डेरा हो !

पेंचदार रास्तों पर भी जीप ऐसी सफाई से भागी जा रही थी कि हमें ऊंघ-सी आने लगी। फिर एकाएक धचका लगा। ड्राइवर को जबरदस्त ब्रेक लगानी पड़ी थी। सड़क के बीचों-बीच एक बुढ़िया खड़ी थी, हाथ-पांव फैलाये हुए, और सिर उसका आगे की ओर ढुलका हुआ। जैसे ईसा की प्रतिमूर्ति हो। जीप खड़ी हो गयी तो वह उसकी ओर लपकी, किन्तु उसके पांव डगमगाये और वह जीप के अगले भाग पर गिरती-गिरती बची। हम कूद कर बाहर आये।

"पगली मालूम होती है," ड्राइवर ने उसे संभालते हुए कहा।

"छोड़ दो इसको," मैंने आदेश के स्वर में कहा।

इस पर बुढ़िया मेरी ओर ही लपकी। "कहां है मेरा बच्चा ?" वह चिल्लायी। "मेरा बच्चा मुझे लौटा दो," वह प्रलाप-सा करने लगी।

अजब तमाशा है ! लेकिन जैसे मुझे किसी ने झकझोर दिया।

"पीछे रहो," गांव के अन्य लोग भी अब वहां जुटने लगे थे।

लेकिन मेरी कुछ समझ में नहीं आ रहा था।

"बेचारी का बच्चा चल बसा," एक ग्रामीण मुझे समझाते हुए-सा कहने लगा। "बस, वही एक ही बच्चा था बेचारी का। लेकिन जाने क्यों, इसे अब जीपवालों से चिढ़-सी हो गयी है। हर अफसर को यही समझती है जैसे उसीने इसके बच्चे की जान ली है।"

"मेरा बच्चा बिना दवा-दारू के मर गया।" बुढ़िया बराबर प्रलाप किये जा रही थी।

"तुम्हारे यहां क्या कोई अस्पताल नहीं है ?" मैंने गम्भीर-से बने पूछा।

"हमें अस्पताल दो," बुढ़िया का प्रलाप जारी था।

"ये अस्पताल क्या अपनी जेब में लेकर आये हैं ?" एक अन्य ग्रामीण उसे डांटने लगा। उस ग्रामीण के मुंह में झाग-सी भर रही थी।

"तुम्हारे यहां इधर कहीं कोई अस्पताल नहीं ?" मैंने उसी झाग-मुंहे से पूछा।

"अस्पताल, इस गांव में ? क्या बात करते हैं जनाब ? यहां तो चारों ओर दूर-दूर तक कहीं कोई अस्पताल नहीं।" कई स्वर एकसाथ उठे।

"लेकिन तुम्हारे यहां पंचायत तो होगी। ब्लॉक समिति होगी ! जिला परिषद् होगी !" मैंने उन्हें राह सुझाते हुए कहा, "अब तो तुम अपने मालिक खुद हो !"

मैं अब प्रचार अधिकारी का धर्म निभा रहा था।

"आप हुजूर, बजा फरमाते हैं। हमारे यहां पंचायत जरूर है, और यह नाचीज सरपंच आपके सामने खड़ा है," एक अन्य व्यक्ति ने गुजारिश-ख्यानी के अन्दाज में कहा। मैं देख रहा था कि उस सरपंच कहलाने वाले व्यक्ति ने कई दिनों से दाढ़ी नहीं बनायी है।

"तब जरा जमकर बात उठानी चाहिए थी," मैं उसको किसी तरह यकीन दिलाने पर तुला था। "आपको बी० डी० ओ० से बात करनी चाहिए थी। डिप्टी कमिश्नर साहब से कहते, दूसरे अफसरान थे । आप तो सीधे मिनिस्टर साहब से ही बात कर सकते थे।"

मैं देख रहा था कि सरपंच के होठों पर कुछ अजब-सी मुस्कराहट उभर आयी है, जैसे उसमें कुछ व्यंग्य भी हो। "हम ने हरसू कोशिश की, साहब," सरपंच के स्वर में अब उदासी झलकने लगी थी। "जो भी अफसर इधर आया, हमने उसी से मिन्नत की। सब वायदे करते हैं और भूल जाते हैं। हमने उनको खत भी लिखे, लेकिन किसको फुर्सत है !"

सरपंच तो मेरे दिल की बात कह रहा है ! क्या मेरे चीफ का भी मेरे प्रति ऐसा ही रवैया न था ? मैंने खूब मिन्नतें की, दरख्वास्तों पर दरख्वास्तें भेजीं, लेकिन सब बेकार गयीं। और बाद में पता चला कि

साहब को उत्तर देने की फुर्सत ही कहां थी! वह तो अपने यहां षड्यंत्रों से षड्यंत्र पीट देने में मसरूफ थे!

लेकिन फिर मुझे अपने कर्तव्यबोध का एहसास हुआ। "तुम लिखे जाओ। उनको लिख-लिखकर हिला दो। कभी न कभी तो जवाब देंगे ही।" मैं उनसे कहता हूं।

"वे सुनेंगे, जरूर सुनेंगे," सरपंच सनक गया दिखता है, "मगर उनको…," और वह अपनी हथेली पर अपनी अंगुली रगड़कर कोई चिह्न बनाता है।

मुझे याद आता है कि मैंने भी एक बार ऐसा ही फैसला किया था, ताकि…।

विरोध घुमड़-घुमड़कर मेरे मस्तिष्क में उठ रहे हैं। विरोध घुमड़-घुमड़कर मेरे दिल में उबाल ला रहे हैं।

वातावरण जैसे भयावह हो उठा है। मैं बोलने की कोशिश करता हूं, लेकिन बोल नहीं पाता। धीरे-धीरे मेरे पांव पीछे हट रहे हैं। फिर मैं एकाएक जीप में जा बैठता हूं, और ड्राइवर से कहता हूं कि वह जीप 'स्टार्ट' करे। गांववाले हाथ जोड़कर मेरा अभिवादन कर रहे हैं। मैं भी प्रत्युत्तर में हाथ जोड़ देता हूं।

●

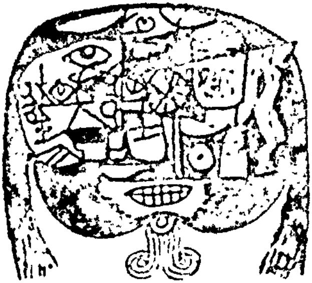

अभाव-पूर्ति

सारी रात हम ऐसे ही निर्व्याज, एकस्थ पड़े रहे। सहसा मुझे लगा कि यह जीवन का अनुपम क्षण है, कि यह जीवन का अनुपम सामंजस्य है।

प्रात: होने में अभी थोडी देर बाकी थी। मैंने दीया जलाया। वह निरपेक्ष सो रही थी। श्रमकण उसके चेहरे पर बिखरे हुए थे। मुझे लगा, वे कंवल पर ओस के मोती हैं। धीरे से उसकी चिबुक को मैंने अपने दांतों की कोमल चाप से दबाया। उसने आंखें खोली, लेकिन फिर तुरन्त ही मीच लीं। दीये के प्रकाश ने उसमें लज्जा भर दी थी। फूंक मार कर उसने दीया बुझा दिया। मैंने कहा, "उठो प्रिय, प्रात: हो गयी।"

हम दोनों कुछ-एक क्षण खिड़की में खड़े बाहर की छटा देखते रहे। हिमज्योति-सा चांद सामने पर्वत की ओट में छिप जाना चाहता था। दीर्घकायी देवदारुओं में नीड़स्थ पक्षी सीटियां बजाने लगे थे। भोर की आहट पाकर उसने कुनमुनाया और मैंने समझ लिया कि अब विदाई का है।

मैं जानता हूं कि वह वेश्या नहीं है, परकीया भी नहीं है। वेश्या में दुखद शीतलता है, परकीया में करुण व्याकुलता है। वह इनमें से कोई भी नहीं है। केवल आज रात के लिए वह मेरी प्रेमिका है, थोड़े से पैसों के लिए वह मेरी प्रेमिका है।

मेरा अनुमान था कि हमारी एक साँस होने पर भी वे हमें सुन रहे होंगे। उनके और हमारे बीच केवल एक पतली सी दीवार ही तो थी। दीवार के दूसरी ओर, अपने कमरे में, वे बार-बार करवटें बदलते सुन पड़ते थे।

ये वे एक दम्पति। पहाड़ पर सैर करने आये थे। पत्नी एक सुगठित, नवयौवना दिखती थी, लावण्यमयी, अपनी ही आभा लिये हुए। पति अपने को पंगु कहने में ज़रा भी नहीं झिझकते थे। उनका पंगुपन जन्मजात था। दोनों पाँव उल्टे मुड़े हुए और उन पर की टाँगें सूख कर डंठल बनी हुईं। वह साधारणतः कुर्सी पर ही बैठे-बैठे नीचे सड़क पर आने-जाने लोगों को देखते रहते थे। कोई कौतूहल का विषय होने पर झट में अपनी पत्नी को बुलाकर दिखाने लगते। पत्नी आती और बड़ी रीझ से उनकी कुरसी के बाजू पर उनसे सटकर बैठ जाती, और धीरे-धीरे अपनी अंगुलियों से उनके सिर के बाल सहलाती हुई कहती, "वह देखो कितना प्यारा बच्चा है!"

हाँ, वे हमें सुन रहे थे।

सुबह पत्नी ने मुझे देखा और ठिठक गयी, पति ने देखा और देखते ही रह गये।

मैंने कहा, "आज चारों ओर साज बजता-सा सुन पड़ता है!"

पति ने सुना और चुप हो रहे, पत्नी ने सुना और सुनती ही रह गयी।

मैंने फिर कहा, "वह सामने हिमशिखर में सूर्य ने अद्भुत प्रकाश भर दिया है। सुना है वह रोहतांग पास है। मैं कल ही वहां जा रहा हूं।"

सुनकर पति-पत्नी दोनों सिहर से उठे।

हम दो महीनों से एक साथ रह रहे थे। पति-पत्नी मुझ से काफी घुल-मिल गये थे। कभी-कभी मैं पति को सहारा देकर नीचे सड़क पर ले जाता था। पत्नी भी धीरे-धीरे हमारे पीछे चली आती थी।

उन दिनों प्रकृति अपने पूरे रंग में थी। चारों ओर एक अजब समां था। पति प्रकृति की इस छटा पर मुग्ध थे। वह लपक कर इस फूल को सूंघ लेना चाहते, उचक कर उस कली को तोड़ लेना चाहते, लेकिन उनका पंगुपन हमेशा उनके आड़े आता। तभी पत्नी में एकाएक एक टीस-सी उठती और वह झट से एक यौवन से महकता फूल उनको भेंट करती। पति उस फूल को उसी के बालों में खोंसते हुए उसके सिहरते शरीर को अपने में समेट लेना चाहते।

दिन का तीसरा पहर था।

देवदारु के उस जंगल में एकदम सन्नाटा था। केवल जगह-जगह छोटे-छोटे कूहलों (नालों) के स्वर जरूर सुन पड़ रहे थे।

हम टहलते-टहलते बहुत दूर निकल आये थे। पति अपनी इच्छा के बावजूद भी हमारा साथ नहीं दे सके थे।

पत्नी खुशी से पागल थी, जैसे कुल्लू घाटी में आने का पुण्य प्राप्त कर लिया हो। कभी इस कूहल में अपने पांव धोने लगती, कभी उस टीले पर उचक कर बैठ जाती।

सामने चट्टानें थी, चट्टानो का सिमटता हुआ घेरा, जैसे एक अछूता संसार। वहाँ हमे कोई नहीं देख सकता था। ऊपर से ठंडी-ठडी फुवार पड रही थी। सहसा मुझे कही से भीनी-भीनी गंध का एहसास हुआ। ओह, पत्नी मुस्करा रही थी! आह, कली चटक गयी है। (उसको अनुकूल वातावरण जो मिल गया था!) फिर लगा, उसके और मेरे बीच कोई दुराव नही, वह मेरे बिल्कुल निकट है।

एकाएक कही से ज़ोर की एक चीख सुन पड़ी। हम चौंक गये। मन मे ऐसे ही डर भर गया। हम तुरन्त घर की ओर लौट पडे।

मुझे पत्नी से बात करने का साहस नही हो रहा था। वह भी चुप थी।

सामने कंटिदार तारो की बाड थी। सहसा पत्नी रुकी। पीछे से एक बैल फुफकारता हुआ हमारी ओर दौड़ा चला आ रहा था। मारे घबराहट के पत्नी को कुछ सूझ न पडा और वह भयभीत-सी मुझ से चिपट गयी। बैल आगे निकल गया। बाड के दूसरी ओर से एक गाए भी उसी तरह फुफकारती हुई दौड़ी चली आ रही थी। बाड के पास आकर वे दोनो रुक गये। इसके आगे वे बढ़ नही सकते थे। वे पास होते हुए भी दूर थे। उन्होंने तारो मे से थूथनी से थूथनी मिला दी और कुछ-एक क्षण ऐसे ही एक-दूसरे को अनुभव करते रहे।

पत्नी भी मुझसे अब तक वैसे ही सटी खडी थी। सहसा उसे अपनी स्थिति का विचार हुआ और वह सिटपिटायी-सी परे हट गयी। लेकिन मेरे शरीर मे उस वक्त अद्भुत स्फूर्ति भर गयी थी। मैंने झट से उस संवेदनापुंज को अपने मे भर लिया। एक क्षण के लिए जैसे सब ओर शिथिलता व्याप गयी। लेकिन तुरन्त ही उस शिथिलता मे कहीं कुछ तनाव-सा पैदा हुआ, और उस तनाव मे से एक चिंगारी फूटी। पत्नी सिर से पाँव तक काप रही थी और उसके समस्त प्राण उसकी आँखो मे खिंच आये थे।

घर पहुँचते ही वह बाग में कुर्सी पर बैठे हुए अपने पति के पाँवों में जा गिरी और सिसक-सिसक कर रोने लगी।

शाम होने को भी और उसका रोना बन्द नहीं हुआ था। अपने कमरे में बैठे हुए भी मैं उसकी आँखों के आँसू देख रहा था !

भिखमंगे

मैंने काफी हाथ-पांव मारे, लेकिन सब तरह से नाकामयाब रहा। अब मुझे कोई रास्ता नजर नही आ रहा था, कोई रास्ता भी नही। मैं पूरी तरह हार चुका था। लिखकर जीने के मेरे सपने सब छिन्न-भिन्न हो चुके थे।

मैं लेटे-लेटे सहसा चौंका। "क्या हुआ ?"

"ओह ! यह तो मेरी मानसिक शिथिलता है।" मैंने खुद से कहा। लेकिन मुझे लगा जैसे कोई दरवाजा खटखटा रहा हो।

मैंने आलस्य से करवट बदली, मेरी शिथिलता ने भी। फिर मुझे याद आया कि आठ आने चाहिएं, बहुत जरूरी, नही तो रात का खाना नहीं पकेगा। वैसे तो चार दिन से यही आलू उबाल-उबालकर खा रहा हूं, और अब तो स्टोव में तेल भी खत्म हो गया है कि······ मैं इसी क्षोभ से सन्न पड़ता जा रहा था कि दरवाजे पर खटखट फिर हुई।

"कौन ? रामगोपाल ! अरे, आओ भाई, बड़े दिनों बाद आये।"

और यही तो हमारा सह परिचित है, दोस्त ही कहो जो मुसीबत में काम आता है, जो हमें उधार आटा दे देता है, दो रुपये का, फिर तीन का। मैंने सोचा, एक बार ही अधिक ले आऊँ। हो सकता है, रोज-रोज मांगने से उसे बुरा लगे। पांच रुपये का आटा मैंने उससे उधार ले रखा है और उसे विश्वास है कि जब भी मेरे हाथ पैसे लगे मैं उसे तुरन्त दे दूंगा।

रामगोपाल मेरे पास आकर बैठ गया। मैंने सोचा इस बार भी यह काम आयेगा। एक अठन्नी की ही तो बात है। और जब मेरे पास पैसे आ जायेंगे, मैं इसे ठीक पांच रुपये आठ आने लौटा दूंगा। केवल एक अठन्नी इससे मांगूंगा, केवल एक अठन्नी। चार आने का तेल लाऊंगा और चार आने का डालडा, और फिर खाना……।

लेकिन इतने में वह जाने को तैयार हुआ। आठ आने कैसे मांगूं? पहले के ही पांच रुपये देने हैं! इस पर आठ आने और! नहीं, नहीं…। फिर मुझे ख्याल आया कि आठ आने बहुत जरूरी हैं। आठ आने से बहुत काम चल सकता है।

"अच्छा, मैं भी तुम्हारे साथ चलता हूं," मैंने कुछ तत्परता दिखायी।

मैंने सोचा, रास्ते में ही किसी बहाने मांग लूंगा।

वह चलते-चलते रुका, "आओ, सिगरेट पी लो।" वह जानता है कि मैं सिगरेट पीता हूं। उसने मेरे लिए एक सिगरेट खरीदी और अपने लिए एक पान।

"धर्मतल्ला चलोगे?"

मैंने सहज ही 'हां' में सिर हिला दिया। रास्ते में उसने मेरे लिए दो सिगरेटें और लीं और हम विक्टोरिया मेमोरियल के सामनेवाले मैदान के छोर पर एक बैंच पर बैठ गये। पास ही एक मूंगफलीवाला बैठा था। उस समय बड़े ज़ोर से मूंगफली के लिए मेरी तबीयत होने लगी। मैंने चाहा कि उस मूंगफलीवाले की सारी मूंगफली ही खा जाऊँ। मेरे साथी ने एकाएक उससे दो आने की मूंगफली ले ली। हम

अपने सामनेवाली जगमगाती इमारतों को देखते रहे और मूंगफली खाते रहे।

सहसा मेरा ध्यान पीछे की ओर गया। कालिमा से पुता एक दीर्घ-विस्तृत मैदान। लगा, मेरी तरह ही वह भी शिथिल पड़ा है। एक बार तो मेरे दिल में आया कि क्यों न मैं वहीं जाकर पड़ा रहूँ, अपने सादृश्य के ऊपर। जैसे मैं शिथिलता से जर्जरा रहा हूँ, वैसे वह भी। शून्य। जैसे किसी अथाह गर्त में। कभी-कभी पास से कोई जोड़ा गुजर जाता था। उनकी निगाहें ऊपर न उठती थीं। वे जल्दी-जल्दी पाँव टपटपाते चले जाते थे। मेरे दिल में आया कि उनसे पूछूं कि क्या वे भी उसी अथाह गर्त में पड़े थे जिसमें शिथिलता है, और जिस शिथिलता की एक पैनी धार भी है, जो अन्दर घुमती चली जाती है और कुछ-एक क्षणों के लिए व्यग्र कर देती है।

इतने में मेरा साथी बोला, "चलो घर चलें।"

मुझे फिर याद आ गया कि एक अठन्नी माँगनी है, एक अठन्नी।

लेकिन मैं उससे बातें किये जा रहा था। एकाएक किसी की कराहट मेरे कानों से टकरायी। एक लूल्हा भिखारी अपनी कटी बाहें लटकाता मेरी ओर लपका। वह मेरी ओर बढ़ता ही आता था, मैं पीछे हटता ही जाता था।

"यह क्या है!" मैं ने एकाएक सिटपिटा कर कहा।

"दो पैसे, बाबू। कल रात से खाना नहीं खाया है।"

"कल रात से खाना नहीं खाया है?"

"हाँ।"

पर मैं भी तो चार दिन से आलू उबाल-उबालकर खा रहा हूँ। और अब उसके लिऐ भी मेरे पास पैसे नहीं हैं। मुझे एक अठन्नी चाहिए, और यह मैं अपने इस साथी से माँगने जा रहा हूँ। तुम भी, ऐ भिखमंगे, इससे दो पैसे माँग लो। पहले तुम माँगो, फिर मैं माँगूंगा। भिखमंगे .

तुम दो पैसे मांगोगे, मैं आठ आने मांगूंगा। तुमने कल से खाना नहीं खाया, मैं चार दिन से आलू उबाल-उबालकर खा रहा हूं ?

मेरे साथी ने पांच पैसे का एक सिक्का जेब से निकाल कर उस भिखमंगे को दे दिया। मैंने सोचा मुझे भी अब अठन्नी मांग ही लेनी चाहिए। पर न जाने क्यों, मेरे मन में जैसे एक तूफान-सा उठने लगा। मेरा सारा शरीर कांप रहा था। मैं उस लुंज भिखारी जैसा अभिनय कैसे करता।

न जाने कैसे मैंने एकाएक उसे अपनी बांहों में भर-सा लिया और उखड़े हुए स्वर में बोला, "भाई, तुम्हारे पास एक अठन्नी है ?"

उसने एक क्षण चकित-से मेरे हतप्रभ चेहरे को देखा और बिना कुछ बोले मेरे हाथ पर आठ आने रख दिये।

उस समय उसके निकट खड़े रहने की शक्ति मुझमें नहीं रही थी। इसलिए मैंने उसी क्षण उससे विदा ली।

गिद्ध

उस सबको याद करूँ तो लगता है जैसे किसी ने गरमी से झुलसकर हवा पाने के लिए पंखे से मदद चाही हो, लेकिन बिजली का शॉक खाकर टूटकर दूर गिर पड़ा हो। मेरे मन के कैनवस से वे चित्र अभी मिटे नहीं हैं।

भीड़ ठेलते-ठेलते हमें पुलिस-स्टेशन के गेट तक ले आयी थी और त्राण पाने के भाव से हम खुद ही उसके भीतर हो लिये थे। यह सब कैसे हुआ, क्यों हुआ, कारण इसका मैं अब तक भी ठीक से ढूंढ नहीं पाया हूं। मैं तो इतना ही मानता था कि जब काम आती है सच्चाई ही आती है। इसलिए बिना पूछे ही मेज-कुर्सी पर डटे एक कर्मचारी को सब बात मैंने सच-सच बतानी शुरू कर दी। पास मे एक अन्य कर्मचारी भी खड़ा था। उसकी चुस्त वर्दी एवं चाल-ढाल से मुझे लगा कि वह कोई बड़ा अधिकारी है। इसलिए अपनी सच्चाई मैंने उसको भी बांटनी शुरू कर दी। मेज-कुर्सी पर बैठा कर्मचारी एक रजिस्टर में बराबर कुछ नोट

किया जा रहा था। एक बार तो मुझे लगा कि उसे हमारे प्रति नितान्त उपेक्षा है। लेकिन उसके एकाएक पूछने पर कि मैं कहां का रहनेवाला हूं, मेरी भ्रान्ति दूर हो गयी। कर्मचारी की आंखें मिचमिचा रही थीं और उसे समझ नहीं आ रही थी कि एक अन्य प्रान्त के युवक को एक स्थानीय युवती से इतना प्रगाढ़ सम्बन्ध रखने का क्या अधिकार है। शायद मैं उसे भगाकर कहीं अनैतिक व्यापार के लिए ले जाने की फिराक में था; मुझे धारा ३६६ के अन्तर्गत सात वर्ष की कड़ी सजा मिलनी चाहिए। सुनकर मेरे रोंगटे खड़े हो गये। मेरा रोम-रोम कांपने लगा। यह क्या? मैं तो यहां न्याय के लिए आया था, कि नीड़ से निकाले हुए पक्षी को कहीं सहारा मिलेगा। लगा जैसे कोई मुझे दोनों टांगों से बांध कर उलटा, खौलते हुए तेल के कड़ाहे में लटकाने को हो। मेरे अन्दर से एकदम करोड़ों चीखें निकलना चाहती थीं। लेकिन किसी कारण मैं अपने को दबाये रहा। मैं नहीं चाहता था कि मुझे कोई कायर समझे।

अरुंधती की ओर एकटक मैंने देखा। वह बिल्कुल निष्पंद खड़ी थी। मैं जानता था जो कुछ भी हुआ, कल्पनातीत है। लेकिन वक्त पड़ने पर वह मेरे लिए अपनी जान की बाजी भी लगा सकती थी।

कर्मचारी अब सभी प्रश्न उसी से पूछ रहे थे। पहले उससे उसका नाम पूछा गया, फिर उम्र। उम्र उसने सत्रह वर्ष बतायी। लेकिन ठीक उम्र बताने का परिणाम कुछ और ही हुआ। उन्हें मेरे विरुद्ध एक और प्वाएन्ट मिल गया, कि मैंने एक अल्पवयस्क बालिका को भगाने की कोशिश की। मैंने अपने प्यार की दुहाई दी, कि मेरा प्यार तो कुन्दन की तरह सच्चा है, कि हम मजबूरी की हालत में घर से निकले थे, कि मालिक मकान ने मुझे जबरदस्ती घर से निकाल दिया, कि हम कोई दूसरा मकान ढूंढने निकले थे, कि लोग हमें सड़क पर एक-साथ चलते देख न भाए, कि वे मेरी जान लेने पर उतारू हो गए, कि हमारे साथ घोर अन्याय हुआ है, कि यह हमारे नागरिक अधिकार पर आक्षेप है, लेकिन किसी ने मेरी

एक न सुनी। उन्होंने मुझसे पूछा कि मैं क्या काम करता हूँ। मैंने कहा कि मैं एक कलाकार हूँ।

कलाकार? उन्होंने इस शब्द को कुछ इस प्रकार तोड़-मरोड़ दिया कि वह मेरा उपहास-सा लगने लगा।

फिर उनमें से एक एकाएक गंभीर होता हुआ बोला, "बताओ, तुम्हारी जेबों में क्या है?"

उनकी बात सुनकर मुझे बड़ी परेशानी हुई। मैं आत्मसम्मान से तन जाना भी चाहता था और अपनी अकिंचनता के कारण अपने को दयनीय भी अनुभव कर रहा था। लेकिन यह सच है कि पुलिसवालों को इतने निकट से पहले मैंने कभी नहीं देखा था।

अब तक अरुंधती चुपचाप खड़ी थी। लेकिन जब उसे लगा कि बात उलझ गयी है तो वह एकाएक आतुर हो उठी। उसने उन्हें लाख समझाने की कोशिश की कि वह अपनी खुशी से मेरे साथ आयी थी, कि वह अपना बुरा-भला सब समझती है और हमारा रिश्ता कोई नया नहीं है, लेकिन उसकी बात सुनी अनसुनी कर दी गयी। आखिर कुछ बनते न दिखा तो उसने अपना धीरज खो दिया और उसकी आंखों से आंसू ढुलक पड़े।

मैं देख रहा था कि वहाँ हमारे चारों ओर काफी चहलकदमी थी और प्रत्येक व्यक्ति की नजर हम पर गड़ी हुई थी। और तो और, सींखचों के भीतर लोगों तक भी हमारी खबर पहुँच चुकी थी और वे हमें देखने के लिए बेहद उतावले हो रहे थे। हो सकता है, इस सबका कारण अरुंधती का रूप हो। खैर, हमें बताया गया कि हमें बड़े साहब के आने तक इंतजार करनी होगी, और तब तक के लिए हमें अलग-अलग बैठना होगा। तब हो सकता है कि हमें जमानत पर रिहा कर दिया जाए।

जमानत शब्द मुझ पर कोड़े की तरह पड़ा। व्यथा से जैसे कि मैं बिलबिला सा उठा। कौन देगा हमारी जमानत? अरुंधती की ओर देखा तो लगा जैसे वह मूर्छित होकर गिर पड़ेगी। उसके चेहरे पर पसीने की

फि–

बूंदें फूट आयी थी। क्या ही अच्छा होता यदि अरुंधती ने कह दिया होता कि उसके पिता नहीं हैं, कि उसकी मां एक जर्जरित विधवा है, और कि वैधव्य का भार ढोते-ढोते उसकी कमर टूट चुकी है। लेकिन पहले ही मन बांध कर हमें जो यन्त्रणा भुगतना पड़ रहा था। यह भी हो सकता है कि उसने जब अपने चारों ओर आग ही आग देखी तो उस पर पानी डालना फिजूल समझा।

बड़े साहब रात के कोई दस बजे आये होंगे। मेरी कलाई से घड़ी तो उतरवा ली गयी थी, इसलिए मुझे ठीक समय का पता नहीं। यह मेरा अन्दाज ही है, क्योंकि हमें इन्तजार करते-करते प्रायः तीन घटे बीत चुके थे। इस बीच मैं अरुंधती को देख नहीं पाया था। उसे दूसरे कमरे में बैठाया गया था। मुझे जो आभास हो रहा था, वह था उसके मुरझाए हुए चेहरे का, एवं आंसुओं से प्लावित उसकी पलकों का। हां, बीच में कभी-कभी मुझे उससे किसी के धीरे-धीरे बातें करने का आभास जरूर होता था। अरुंधती से कोई इस प्रकार बातें करे! सोच-सोचकर मेरा तन-बदन एक अदृश्य अग्नि से झुलसता जा रहा था। अरुंधती को पता नहीं कितनी यातना भोगनी पड़ रही थी!

बड़े साहब के आने पर पहले पुकार अरुंधती की ही हुई। मैं नहीं जानता कि उससे क्या-क्या प्रश्न पूछे गये। लेकिन हां, अब वह भीतर ही भीतर न रो कर जोर से फूट पड़ी थी और उसका चीत्कार मेरे कानों तक भी पहुँच रहा था। मैंने उसे केवल एक बार ही इस प्रकार चीत्कार करते देखा था, और वह तब जबकि मुझे उसके प्यार पर कुछ शक हुआ था।

मेरी बारी आयी तो मैं डटकर बड़े साहब के सामने जा खड़ा हुआ। मैं चाहता था कि मैं उनके सामने ठीक से कुर्सी पर बैठ कर बात करूँ। लेकिन मैं मुलजिम जो था! बड़े साहब कुछ इस प्रकार धमाके से बोल रहे थे जैसे बम चल रहे हों। मेरा स्वर कांपने लगा। लेकिन जो सच बात

थी वह मैंने दुहरा दी। अब बड़े साहब के स्वर में वह कठोरता न थी। मैं कुछ आश्वस्त हो गया। अरुंधती भी वहीं पास में खड़ी थी। उसके चेहरे पर भी कुछ-कुछ ताजगी आ गयी थी। मेरा मन कह रहा था, देखा, आखिर सत्य की विजय हुई न !

लेकिन जल्दी ही मुझे अपनी भूल का एहसास हो गया। बड़े साहब ने अपने सहयोगियों का केवल अनुमोदन ही किया था। और यह ठीक भी था। वे भला हृदय की सच्चाई को अपने नियमों की किस कसौटी पर कसते ! अब यह स्पष्ट था कि हमें अदालत में पेश किया जायेगा और तब तक मुझे हवालात में बन्द रहना होगा। लेकिन अरुंधती को कहाँ रखा जायेगा, इसकी मुझे कोई खबर न थी।

सुबह जब मेरी आँख खुली तो मेरे सिर में जोरों का दर्द था और आँखें फूटी आ रही थीं। शरीर भी समूचा ऐंठ रहा था। शायद यह सरदी के मौसम में खुले फर्श पर सोने का परिणाम था।

सींखचों के भीतर, नींद आने से पहले, सबसे पहले जिस व्यक्ति से मेरा परिचय हुआ वह था एक बर्मी। उसको हवालात में भिजवाने वाली उसकी बीवी थी जो अपने प्रेमी के साथ रह रही थी। मेरा यह साथी काफी प्रभावशाली जान पड़ता था, क्योंकि वहाँ बैठे-बिठाये उसकी हर जरूरत पूरी हो रही थी। जिस समय उसने मेरा परिचय प्राप्त किया उस समय वह ब्लैक-एण्ड-व्हाइट सिगरेट पर कश लगा रहा था। लगता था हवालात में आने का यह उसका पहला अवसर नहीं था, क्योंकि एक ही बार में इतना प्रभावशाली बन जाना कोई सहज नहीं। वैसे भी हमारे साथ के दूसरे सभी लोग उसकी जी-हजूरी कर रहे थे। खैर, जब तक मुझे नींद न आयी वह मुझे पुलिसवालों के कारनामे बताता रहा। उसने बताया कि मैंने सच कहकर कितनी मूर्खता की है, और अपने पाँव पर स्वयं ही कुल्हाड़ी मारी है। वैसे अब भी, उसने कहा, कुछ बिगड़ा

नहीं है—मैं कह सकता हूं कि ये ब्यान मुझसे दबाव में लिये गये। मुझे सच्चाई को गरदन से मरोड़ना होगा, प्रेम को कुछ और रूप देना होगा और अरुंधती को उन्नीस वर्षीय बनाना होगा।

सुबह उसने जब देखा कि मैं जग गया हूं तो उसने अपनी दीक्षा देना जारी रखा और बार-बार कहता रहा कि मुझे सच कभी नहीं बोलना चाहिए। लेकिन मेरे मन में तो उस समय अरुंधती ही चक्कर काट रही थी, और सीखचों के बाहर मेरी आंखें उसे ही बराबर ढूंढ रही थी। इतने में पास से गुजरते हुए एक सिपाही से पता चला कि रात को उसकी मां को भी यहीं बुला लिया गया था और वे दोनों बाहर बैठी हैं।

इस पर भी मेरे मन का बोझ हलका न हुआ। मुझे लग रहा था जैसे हम दोनों दो फाख्ताओं की नाई एक जंगल में कौवों से अत्यधिक सताये जाने पर गिद्धों से न्याय मांगने आये हों।

वर्मी सज्जन ने शायद मेरे मन की हालत भांप ली थी। उसने तुरन्त हमारे साथ के दो लड़कों को आदेश दिया कि वे मेरे हाथ-पांव दबाएं। उसने कोशिश करके मेरी ओर से किसी तरह अरुंधती तक यह भी पहुंचा दिया कि उसे अदालत में ब्यान बदलना होगा। इसके लिए उसे अपने एक ब्लैक-एण्ड-व्हाइट सिगरेट की कुर्बानी भी देनी पड़ी।

दिन के नौ बजे होंगे जब मुझे सूचना मिली कि मुझे कहीं चलने के लिए तैयार रहना चाहिए। इसके साथ-साथ मुझे यह भी बताया गया कि अरुंधती एवं उसकी मां मुझे ज़ार-ज़ार गालियां दे रही हैं और मुझे कड़ी से कड़ी सज़ा दिलवाने के पक्ष में हैं, और यह भी कि मुझे भी अब उसके विरोध में ब्यान देना चाहिए। सुनकर मुझे थोड़ा दुःख भी हुआ और हंसी भी आयी। पुलिसवालों के इस विद्रूप को मैं समझते हुए भी समझना नहीं चाहता था।

दिन के दस बजे हवालात का ताला खुला और कुछ लोगों को बाहर आने के लिए कहा गया। उनमें से एक मैं भी था। बाहर ग्राउंड मे एक ट्रक खड़ा था। उसी में सब को धकेल दिया गया। न जाने क्यों मुझे उस समय इतनी शर्म आ रही थी। मैं चाहता था कि किसी तरह अपने चेहरे को काट फेंकू। एक समय मुझे ऐसा भी लगा कि जैसे मेरे जिन्दे का जनाजा निकलने को हो। इतनी हीनता का भाव पहले मेरे मन में कभी नही आया था। एक सिपाही ने जाने मेरे मन की हालत कैसे जान ली—ट्रक जैसे ही पुलिस स्टेशन से बाहर हुआ, वैसे ही उसने मुझे अपनी आड़ में छिपा लिया। मैं किस दिल से उसके प्रति आभार प्रकट करता!

कोई आधे घंटे बाद हम वहा से लौट आये। हमारी अगुलियो के प्रिंट ले लिये गये थे।

सीखचों के भीतर हम दोबारा गये ही थे कि ताला फिर खुला और मुझे बाहर आने को कहा गया। अब मुझे न्यायालय मे पेश किया जाना था।

न्यायालय पुलिस स्टेशन से ज्यादा दूर नही था। इसलिए मुझे वहा पैदल ही ले जाया जाना था। हम रामायण युग मे नही रहते, वरना हो सकता है कि पृथ्वी मेरी प्रार्थना स्वीकार कर मुझे अपने मे समा लेती। उस समय के दृश्य को याद करू तो मुझे लगता है जैसे कोई मरे हुए कुत्ते को घसीट रहा हो। मेरी कमर मे एक मोटे रस्से का फंदा डाल दिया गया था और एक सिपाही उसके सिरे को अपने हाथ मे लिये हुए मेरे आगे-आगे चल रहा था।

न्यायालय में पहुँचा तो वहा अर्द्धांगनी भी दिखी। वह पहले ही वहां पहुँचा दी गयी थी।

मैजिस्ट्रेट के सामने पेश होने मे हमें ज्यादा देर न लगी। एक ही रात में परिस्थितियो ने मुझे बहुत कुछ सिखा दिया था। मैजिस्ट्रेट के पूछने पर मैंने कहा, दो अच्छे पडोसियो की तरह हम रह रहे थे, लेकिन

दुनिया को यह न भाया और हमारे मालिक मकान ने मुझे जबरदस्ती मकान से बाहर कर दिया। और, उस समय मैं सामाजिक न्याय, मानव-मानव के बीच की तरह-तरह की दीवारें तथा अमानवीय कानून की बात नहीं उठाना चाहता था, लेकिन मेरे मन में इतना निवेदन कर देने की जरूर थी कि क्या उनके यहां सच्चाई की यही कीमत है ! उस समय मेरे कानों में पिछले दिन की भीड़ का हो-हल्ला तथा प्रान्तीयता की पुकार अब भी गूंज रही थी।

अरुंधती एक बार फिर निष्पंद खड़ी थी।

केस खारिज हो चुका था। न्यायालय से जब हम बाहर निकले तो हम सब चुप थे। किसी को भी बात शुरू करने का साहस नहीं हो रहा था।

फिर एकाएक किसी मंदिर से घंटी बजने का स्वर सुन पड़ा। अरुंधती के हाथ एकाएक बंध गये और उनपर उसका माथा झुक गया। फिर सहसा उसके मुंह से निकला, "हमें शक्ति दो, हे"···!

मेरी आँखों में भी उस समय आंसू आ गये थे। अरुंधती की ओर देखा, उसकी पलकें भी भीग रही थीं।

अरुंधती की मां ठठराती-सी हमारे पीछे-पीछे चली आ रही थी।

अँधेरे की आँखें

मैं उसकी व्याकुलता को क्या जानूँ? उसके और मेरे बीच 'पशु' और 'मानव' होने की खाई जो है!

सुबह उठते ही देखा कि डाक-बंगले के बरामदे में एक बकरी ठिठुरी हुई, निरीह-सी, एक कोने में सिमटी बैठी है। पहाड़ी इलाका था, शायद अपने रेवड़ से छूट गयी थी। बाहर ज़ोर की वर्षा हो रही थी। पास ही नदी घोर गर्जन कर रही थी और इससे इस जीव की ठिठुरन बराबर बढ़ती जा रही थी।

मुझे देखते ही वह सहम गयी। शायद वह चाहती थी कि उसी कोने में समा जाये। पर मजबूर थी। दीवार उसे जगह नहीं दे रही थी। लेकिन फिर भी वह सिमटी ही जा रही थी। जैसे उसकी धुन में कुछ आतंक थी, भय था, त्रास था और वह उसको भीतर ही भीतर अनुभव कर रही थी। फिर मुझे अपनी ओर बढ़ते देख वह एकाएक उछल कर खड़ी हुई। अपने कल्पित व्याघ्र के प्रति अनादर में बैठे रहने में उसका

कोई बचाव नहीं । आंखें उसने घुमाकर सफेद कर ली थीं । लेकिन भागे तो कहां भागे ? टांग उसकी टूटी हुई है, वातावरण पर उसका वश नहीं, और उस पर उसका कोई सहचर नहीं, कोई रक्षक नहीं ।

कुछ देर यों ही मिटमिटाने के बाद एक क्षण आता है, जब एकाएक सारी दृष्टि बदल जाती है । न जाने कैसे, वह पंगु जीव मुझे ही अपना सहचर, अपना रक्षक समझ बैठा और सहानुभूति पाने के लिए मेरे पास आ खड़ा हुआ । मैं उसे कहता तो क्या कहता ? हां, उसकी नरम-नरम, रोएंदार गरदन को सहलाते हुए मैंने उसे मन ही मन सांत्वना दी, "भई, तुम्हारे मन में मेरे प्रति यह अविश्वास क्यों ?" और जैसे कि मेरे मूक शब्द उसके अन्तस् तक अनायास ही पहुंच गये हों, वह सहज ही धीरे से मिमिया उठी ।

ऐसे ही खड़े-खड़े मैं उसे एकटक देखता रहा । उसके काले रूप में वह जो चमक थी, मुझे बहुत प्रिय थी । उसको मैं कहना तो बहुत कुछ चाहता था, लेकिन किस भाषा में कहूं ? वह जो उसके और मेरे बीच अगम्य है, उसे कैसे पूरा जाये ? मैं उससे पूछना चाहता था कि अरे, क्या तुम सारी रात ऐसे ही ठिठुरती रहीं ? क्यों नहीं तुम मेरे पास आ गयीं ? तुम्हें इस अंधेरे में डर नहीं लगता ? और तो कुछ नहीं कर सकता, लाओ तुम्हारी टांग रूमाल से बांध दूं । और अपनी जेब से रूमाल निकालते हुए मैंने उसे पुचकारा । लो, वह तो मेरी भाषा समझती है । क्योंकि रूमाल को देखते ही उचक-उचक कर वह मेरे आलिंगन में आ जाने के लिए व्याकुल होने लगी । उसके मन का आदिम भय भाग गया था ।

दूर, जैसे अन्तरिक्ष में, कोई व्यक्ति अपनी धोती का लंगोट बनाये उस व्यग्र, पहाड़ी नदी की शिलाओं में अटकी हुई लकड़ियां निकाल रहा है । वह अपने कार्य में बड़ा दक्ष दिखता है, क्योंकि ऐसी नदी से ऐसा

खिलवाड़ करने के लिए असाधारण साहस चाहिए। वह बड़ी फुर्ती से इस शिला से उस शिला पर छलांग लगाता है। जरा सी असावधानी उसकी मृत्यु का कारण हो सकती है।

व्यक्ति ने शायद देख लिया कि कोई यात्री डाक-बंगले में ठहरा हुआ है। पास आकर, उसने झुक कर, मेरा अभिवादन करते हुए पूछा, "साहब इधर ठहरेंगे ?"

"हां, पैदल चलते-चलते बहुत थक गया हूं, इसलिए आज रात यहां आराम करने का ख्याल है।" मेरे स्वर में बेगानापन था।

लेकिन वह इससे तनिक भी अप्रतिभ न हो गिड़गिड़ाता हुआ बोला, "तो साहब, बन्दा ताबेदार है। वह सामने मेरा होटल है। जिस चीज की जरूरत हो, फौरन हुक्म दें···हाँ, तो आज दोपहर को क्या खायेंगे ? सब्जी, दाल, शिकार—जो आपका हुक्म हो ?"

मैंने संक्षेप में बताया कि मुझे साधारण भोजन चाहिए। इससे शायद उसे कुछ निराशा हुई, लेकिन फिर भी अपने भीतरी भाव को छिपाते हुए बोला, "खैर, जो भी आप चाहें। अच्छा, अब चाय लाऊँ ?"

मेरी 'हां' सुनकर वह जल्दी से चलने को हुआ। लेकिन मैंने उसे एकाएक टोका, "दरिया में इस तरह लकड़ियां निकालते हुए तुम्हें डर नहीं लगता ?"

"डर ?" उसने कंजूसी से हँसते हुए उत्तर दिया, "डर किस बात का ? उस भगवान् को जो मंजूर है, वह तो होकर रहेगा ?"

"कहाँ के रहनेवाले हो तुम ?" मैंने सवालों का तांता लगा दिया।

"पंजाब का।"

इस पर मैंने उसका साहस बढ़ाने के विचार से पंजाबी में ही बोलना शुरू किया, लेकिन उसके ढंग में कोई परिवर्तन न आया।

"तो इधर, इस इलाके में, तुम्हें कोई खास फायदा है ?" मैं देख

रहा था कि मेरे विश्राम-गृह और उसके होटल के अलावा वहां और कोई सिर छिपाने की भी जगह न थी। हां, पास ही 'हैसी' लोगों के (कुल्लू घाटी की खानाबदोश जाति) एक-दो गेह जरूर थे।

"फायदा क्या होगा ? बस, इधर आते-जाते मुसाफिरों की सेवा हो जाती है।" उसकी भाव-भंगिमा से निर्लिप्तता टपकने लगी।

"वेटा है तो चालाक !" मैंने मन ही मन कहा।

लेकिन इस वार्तालाप के बीच वह बकरी तो ध्यान से ही निकल गयी थी। जैसे वह हमारी बातचीत में एकाग्रचित्त हो अपने भविष्य का फैसला सुन रही हो, क्योंकि उसके कान तो खड़े थे और आंखें उसकी टुकुर-टुकुर हम में कुछ कौतुक देख रही थीं। होटलवाले का हिलना था कि वह छपाक से उछल कर एक तरफ हट गयी। होटलवाले का कौतूहल जागा, "अरे, यह बकरी किस की है ?"

"पता नहीं। रात से यहीं पड़ी है। वेचारी की टांग किसी ने तोड़ दी है।"

होटलवाला कुछेक क्षण असमंजस में पड़ा रहा। फिर एकाएक बोला, "ओ हां, इसको तो मैंने वहां बांध रखा था। यहां कैसे आ गयी ? कल ही तो इसे एक कुआल (गडरिया) से बीस रुपये में खरीदा है।"

और यह कह कर वह जिस फुर्ती से नदी से मेरी ओर लपका था, उसी फुर्ती से उस भीरू जीव पर लपका, और उसे दौड़ाता-धमकाता अपने होटल की ओर ले गया।

चाय पीने मैं होटल खुद ही गया। देखता हूँ सामनेवाली उच्चश्रेणी की छाया में एक छोटी सी दुकान है जिसके मस्तक पर कोई बोर्ड तो लगा नहीं है, और न ही उसमें चोरी-डाके से बचने के लिए कोई दरवाजा ही है। हाँ, दरवाजे के नाम पर एक झाँझर टाट का टुकड़ा जरूर लटका हुआ है। दुकान का नक्शा तैयार करने के लिए किसी ड्राफ्ट्समैन की

जरूरत भी नहीं पड़ी। खुद ही सुविधानुसार पत्थरों के छोटे-बड़े टुकड़े चुनकर उसे तैयार कर लिया गया है।

यह असल में दुकान भी है और होटल भी, क्योंकि इसमें खाने-पीने से लेकर सुई-धागे तक, हर चीज मिलती है। इधर कड़ाई में धुआं उठ रहा है, तो उधर एक कोने में रस्सी पर गोश्त सूख रहा है। यहां एक खूंटी से नाड़े लटक रहे हैं, तो वहां गठरी में कपड़े के थान बंधे हैं। आपको क्या चाहिए? रात काटने के लिए दो गज जगह? वह भी आपको दो आना देने पर मिल सकती है। यदि गरम कपड़े नहीं हैं, तो आप चूल्हे के पास, उसकी गरमाई तपते-तपते सो सकते हैं। खैर!

दुकान में प्रवेश करते ही मेरी आवभगत में दो-एक स्वर उठे। उनमें ऊंचा स्वर एक युवक का था। वैसे वहां दाढ़ी-मूछवाले एक सन्यासी भी बैठे थे, जिनके चेहरे पर मेरे वहां पहुंचने से कोई स्पष्ट भाव दीख नहीं पड़ता था, क्योंकि वह आंखें मूंदे भजन-गान कर रहे थे। मुझे एक आसन पर बैठते देख वह युवक उत्कण्ठा से बोला, "क्या दूं, महाराज?" और फिर मेरा संकेत पा बड़े अन्दाज से एक गिलास चाय बनाने लगा। मुझे समझते देर न लगी कि यह उस प्रौढ़ व्यक्ति का सहकारी है।

"चाय खाने को क्या दूं, पंडत जी?" उसने उस प्रौढ़ व्यक्ति को जताना चाहा।

दरअसल वह 'पंडत जी' नामधारी व्यक्ति उस समय भागवत-पारायण कर रहा था, और यह प्रश्न शायद उसके 'मनन' में बाधा था। इसलिए इसे सुनते ही पाप को नदी की गर्जना को अपनी गर्जना में डुबोता हुआ चीखा, 'देख नहीं रहे, मैं पाठ कर रहा हूं?"

मैं समझ गया कि परोक्ष रूप से यह गुस्से में बुझा तीर मेरी ओर ही छोड़ा गया है। अपनी भूल सुधारते हुए मैंने कहा, "नहीं जी, जो तुम खिलाओगे, खा लूंगा।" सुनते ही उस 'पंडत जी' की पूरी बांछें खिल गयीं और अपने हाथ की उस फटी हुई पोथी को एक तरफ रखकर वह पूरे मन से मुझ में रुचि लेने लगा।

"हाँ आप कह रहे थे," उसने कहना शुरू किया, "कि दरिया में लकड़ी निकालते वक्त मुझे डर नहीं लगता ! बात असल में यह है साहब कि जान को जोखों में डाल कर ही सब कुछ किया जाता है। पेट का मामला जो ठहरा। उधर से लकड़ियाँ बहती आती हैं। उनका कोई वाली-वारस तो होता नहीं, सो हम……।"

वह बात खत्म भी न कर पाया था कि किसी ने टोक दिया। तीन-चार बच्चे बारी-बारी से सिगरेट का एक टुकड़ा पीते हुए दुकान के बाहर खड़े कुछ कुनमुना रहे थे। संकोच और भोलापन उनके चेहरों की गुलाबी से मिलकर एक निराली छटा ला रहा था। 'पंडत जी' ने उनको देखते ही पहले तो दिखावे की घुड़की भरी, और फिर मुझे उनके कुनमुनाने का अभिप्राय बताते हुए बोला, "दो जी, इनको एक-एक पैसा; ऐसे ये जान छोड़ेंगे !"

मैंने पूछा, "बच्चो, क्या चाहिए ?"

"हाँ, पैसा," उनका एकसाथ स्वर सुनायी दिया।

मैंने सबको एक चवन्नी दे दी।

उनके हाथ में चवन्नी देखकर 'पंडत जी' को रोमांच हो आया। झट से अनुरोध हुआ, "लाओ बच्चो, तुम्हें मिठाई दें।"

सहकारी युवक बाहर लकड़ियाँ फाड़ रहा था। उसने सरसरी तौर से 'पंडत जी' की ओर देख भर लिया।

'पंडत जी' अन्तर्यामी के समान कह रहा था, "जायेंगे कहाँ ? लायेंगे तो यहीं न ?"

मैंने उसके मन की थाह लेनी चाही। व्यंग्य किया, "तुम तो पंडत जी, यहाँ के सेठ हो। नहीं, सेठ की तिजोरी हो !"

पर वास्तविकता उसे कटु न लगी। अपने पोपले मुंह को खोलते हुए बोला, "मैं ठीक कहता हूँ। ये जायेंगे कहाँ ? लाओ, लाओ बच्चो, मिठाई नहीं खाओगे आज ?" उसने अपना रुख उधर मोड़ लिया था।

बच्चे विमूढ़ से, ना-नुकर करते हुए बड़ी सरलता से मेरी ओर देखने लगे।

मैंने कहा, "क्या तुम्हें गाना आता है? गाओ। और पैसे मिलेंगे।"

'पंडत जी' ने समझा, शायद मध्यस्थता की ज़रूरत है। बोला, "अरे साहब, इनसे क्या सुनना। इनकी बड़ी-बड़ी बहनें हैं......"

"अच्छा!" मेरा कौतूहल जागा। "ये लोग काम क्या करते हैं?"

"काम?" मेरे कौतूहल को बनाये रखते हुए वह बोला, "ये हैसी लोग हैं। काम इनका यही है—बस, नाचना, गाना और जब देखा कि आपकी जेब में कुछ है तो 'मू' हो जाना," और उसने अपनी अंगुलियों से एक अश्लील संकेत किया।

मैं कुछ सकुचाया भी, लेकिन यह कौतूहल जो जागा था। "तो जैसा सुनता हूँ यहाँ की फ़िज़ा ही खराब है?"

"अरे, आप तो सब कुछ जानते हैं।" उसने अपनी आँख मारते हुए झट से उत्तर दिया, "बन्दा आपका हर तरह से ताबेदार है!"

इस समय तक वह दाढ़ी-मूछवाले सन्यासी अपना भजन-गान समाप्त कर चुके थे, और इस स्थिति का अपनी बड़ी-बड़ी आँखें खोले अवलोकन कर रहे थे। एक-दो बार इस पर उन्होंने अपना मतामत प्रकट करना भी चाहा, लेकिन चुप ही रहे।

इसी बीच कहीं से बकरी ज़ोर से मैं-मैं कर उठी। दुकान का वातावरण एकाएक स्तब्ध हो गया। 'पंडत जी' अन्दर ही अन्दर आवेश में आ गया, सहकारी युवक भी एकदम सतर्क हो गया, सन्यासी की बड़ी-बड़ी आँखें फैल कर और बड़ी हो गयीं और मुझ में भी एक प्रकार की उत्सुकता आ गयी। क्या हुआ? सबके चेहरों पर यह प्रश्न-सूचक चिह्न था। "वोह! वोह!" बाहर खड़े बच्चों में हलचल सी मच गयी, और वे बार-बार ऊपर एक चट्टान की ओर इशारा करने लगे। देखा, बकरी रस्सी से बंधी, गले में फंदा लिये, एक बड़े से पत्थर से लटक रही है!

'पंडत जी' दौड़ा, सहकारी युवक दौड़ा, मैं दौड़ा और मेरे पीछे-पीछे सन्यासी भी तेज कदमों पर चले आये।

बकरी के गले में रस्सी खोलते ही 'पंडत जी' उछल पड़ा। तुरन्त अपने सहकारी को आदेश दिया, "दौड़ कर नीचे से छुरी ले आओ। इसको अभी बना लें, नहीं तो……"

यह सुनते ही मेरे अन्दर कुछ डोल-सा उठा। सन्यासी ने अपनी आँखें मूंद लीं।

सहकारी युवक ने धीरज से काम लिया। "इसको जरा होश में लाने की कोशिश तो करो!"

और वह मुमूर्षु जीव! उसकी रुकी-रुकी सांस फिर चलने लगी। आंखों में उसके नीर था, और वह अपनी व्यथा कई प्रकार से व्यक्त करना चाहती थी।

शाम का समय।

गरमी का मौसम है। सरदी का मौसम होता तो यहां बरफ की कई-कई परतें जमीं होतीं। फिर भी मेरे जैसे मैदान से आये व्यक्ति के लिए यह सरदी के मौसम जैसा ही है। उतरती शाम के साथ-साथ ठण्ड क्षण-प्रतिक्षण बढ़ती जा रही है। आसमान को देखकर सहज ही लगता है कि आज रात बारिश फिर होगी।

इधर 'हैसी' लोगों के खेमों से जो धूआं उठता है, वह वहीं ऊपर जम जाता है। पास ही खड़े उनके खच्चर कभी-कभी हिनहिनाते हैं, कुत्ते भौंकते हैं, लेकिन यह सब नदी की गर्जना में डूब जाता है। 'पंडत जी' की बकरी भी इन खेमों के पास अपनी तीन टांगों पर लंगड़ाती घास चर रही है।

एक खेमें के अन्दर डफ पर नृत्य का पूर्वरंग आरम्भ होता है। घुंघरू टुनटुना उठते हैं। भारी-भारी कदमों की थाप सुनायी देने लगती है।

फिर एक साथ दो आवाजें उठती हैं। स्पष्टत: वे स्त्रियों की हैं। एक और आवाज उनका अनुसरण करती है। इसमें न सोज़ है, न कोई भाव, केवल एकलयता है। वह एक 'हैसी' युवती है। अपने गाने में किसी को बार-बार प्रेम का उलाहना दे रही है। अब यह नाच और गाना पराकाष्ठा की ओर पहुंच रहा है। 'पंडत जी' की आँखों में लाल डोरे खिंच आये हैं। वह भर-भर 'लुगडी' (स्थानीय नशीला पेय) के कटोरे पी रहा है। उसके सामने उसका एक हमउम्र 'हैसी' बैठा है, जो उस को पीये जाने के लिए उत्तेजित किये जा रहा है। उसकी मूछें घनी हैं, चेहरा छोटा है और पिचका हुआ है, और एक आँख में सफेदी आयी हुई है। उसकी बगल में दो बुड्ढी औरतें कानों में बालियाँ डाले डफ बजा रही हैं, और उनके साथ, आपस में सटकर कुल्लू की दो युवतियाँ बैठी हैं। सन्यासी और सहकारी युवक दुकान में बैठे सुल्फा पी रहे हैं।

डफ बजे जा रही है, घुंघरू टुनटुनाए जा रहे हैं, और कोई ऊँचे-नीचे स्वर में एकरस हो गाये जा रहा है।

लगता है नदी जैसे यह सब कुछ देख-सुन रही है और जोर-जोर से अट्टहास कर रही है।

विश्राम-गृह के बाहर अंधेरा और गहरा हो गया है। लेकिन इस अंधेरे की भी जैसे आँखें हैं।

वे आँखें मेरी ओर बढ़ती ही चली आ रही थीं। मैं अपने बिस्तर पर लेटे-लेटे सहसा चौंक पड़ा। यह क्या? वे आँखें कुछ कहती भी नहीं, बस बिना पलक झपके देखे ही जाती हैं। उनमें वे ही लाल-लाल डोरे। मैंने पहचाना। 'पंडत जी'? हाँ। 'क्या चाहिए?' कोई जवाब नहीं। फिर प्रश्न किया। इस बार टार्च के फैलते प्रकाश की तैरती रेखाएँ तीन चेहरों पर बारी-बारी से रुकीं। 'कौन? वही 'हैसी' नर्तकी? वे

हो दो युवतियां ?' मुँह से कुछ बोलती नहीं, भाग से जुड़ी पुतलियाँ सी गड़ी हैं।

बोलो, बोलो, क्या चाहिए ?

गुफाओं, कन्दराओं से प्रतिध्वनित होता एक दीर्घ स्वर—पैसा।

फिर सन्नाटा। नदी में अपूर्व उफान। जैसे उसमें सब कुछ समा जायेगा। 'पंडत जी' में भी उफान उठा और उसके साथ एक चीख।

"देख क्या रही हो ?"

और जैसे कि एक-दो-तीन शरीरों की नग्नता ने मुझे घेर लिया। "पंडत !" मैं एकाएक उठ खड़ा हुआ। लेकिन ये अंधेरे की आँखें जो थीं, ज़रा भी न झपकीं, किन्तु विरत होकर पीछे हट गयीं। मुझे कंपकंपी छूट आयी, लेकिन साथ-साथ मुझ में दृढ़ता भी जागी।

"ठहरो !" मैंने लपकते हुए कहा।

लेकिन वह जो भागा तो सीधे होटल जाकर ही रुका।

मैं प्रकृतिस्थ हुआ, पर इस हालत में नींद मुश्किल थी। मन में एक प्रकार की धुक-धुकी सी लग गयी थी। उसके पीछे-पीछे ही हो लिया।

दुकान पहुँचते ही उसने टाट तान लिया। मैं साँस रोके बाहर ही खड़ा रहा। सहकारी युवक शायद सन्यासी के लिए सोने की व्यवस्था कर रहा था। उसने 'पंडत जी' का चेहरा देखा और सब कुछ समझ गया।

"क्यों, काम नहीं बना ?" उसने धीरे से पूछा।

बादल जो देर से बरसना चाह रहे थे, एकाएक वेग से बरस पड़े। "तेरी जो शक्ल देख कर गया था।"

"मेरी शक्ल ?"

"हां मरदूद, तेरी शक्ल।"

"धैर्य धरो, बेटा।" सन्यासी अपने अधिष्ठान से बोले।

"आप ही रक्षा करो, नारायण।" 'पंडतजी' ने याचना की, "आप

को यहाँ कुछ दिन ठहरने के लिए इसलिए प्रार्थना की थी कि आप के प्रताप से·······!"

"यह पाप कब तक फलेगा, महाराज ?" युवक तन गया था।

सन्यासी ने अपना वरद्हस्त उठाया, "धैर्य धरो, बच्चे !"

"नहीं, बात कुछ जरूर है, महाराज," 'पंडत जी' अपनी पराजय का कारण ढूंढ रहा था, "या यह बकरी ही मनहूस है !"

और जैसे कि उसने कारण ढूंढ ही निकाला। उसी क्षण उछला और कोने में एक और सिमटी बकरी को जा दबोचा। कुछ क्षण बकरी की अनवरत मैं-मैं अंधेरे को चीरती रही। फिर एक हृदय-विदारक स्वर, वैसा जो सिर्फ मृत्यु के क्षण पर ही कोई पशु निकाल सकता है। पहाड़ चुप थे। उनमें कोई हरकत न थी। पेड़ निष्पन्द थे···

'हैसी' लोगों ने इसे जरूर सुना और वे बेतहाशा दुकान की ओर दौड़े। टाट खींचकर अलग फेंक दिया गया, और खून से लथपथ 'पंडत जी' को देखकर वे आपस में कुछ कानाफूसी करने लगे। 'पंडतजी' के हमउम्र 'हैसी' ने, जो शाम को उसे लुगड़ी के कटोरे भर-भर कर दे रहा था, बकरी के सिर से जुदा हुए, तड़पते शरीर से फूटती खून की धार देखकर जबान से चटखारे मारने शुरू कर दिये। 'पंडत जी' ने मौका हाथ से न जाने दिया, बोला, "दो आने !" और दाम तय हो जाने पर खून से एक बर्तन भर दिया गया।

'पंडत जी' का होटल।

एक खूंटी से पिछली टाँगों से बँधी बकरी लटक रही है, और 'पंडत जी' बड़ी होशियारी से धीरे-धीरे उसकी खाल उतार रहा है।

सुबह हो गयी थी और मैं होटल के पास चलने को तैयार खड़ा था। 'पंडत जी' मुझे देखते ही सकपका गया, और खाल उतारने-

उतारते एक क्षण के लिए रुक गया, जैसे उसकी चाल पर मैंने ब्रेक लगा दी हो। फिर उसे याद आया और वह झट से मेरे पास पिछले दिन का हिसाब चुकाने आ खड़ा हुआ। पर जहां उसने छोड़ा था, वहीं उस के सहकारी ने संभाल लिया। यात्री को तैयार देख 'हिप्पी' भी अपने खेमों से बाहर आ गये। सन्यासी बाबा शीतल स्नान में मग्न थे।

देखते ही देखते सहकारी के चेहरे पर झुंझलाहट घिरने लगी, छुरी चलते-चलते उसके हाथों से गिरने को हुई और वह एकाएक चिल्लाया, "पंडत जी, यह क्या? यह तो गाभिन थी।"

एक साथ सब की नज़रें उठीं। पहले बकरी के कटे हुए पेट पर और फिर 'पंडतजी' के चेहरे पर। लेकिन वहां तो कोई भी भाव न था। केवल जड़ता थी, जड़ता!

दवाव

बाहिर से लौटकर अभी मैंने पसीना पोंछा ही था कि दरवाजे पर दस्तक हुई।

"कौन ?" मैंने पुकारा और तुरन्त ही दरवाजा खोल दिया। देखा, एक अपरिचित व्यक्ति है, पैन्ट-कमीज पहने हुए, वैसे काफी सादा। जवानी आयी तो है लेकिन जल्दी ही जा रही है।

मैंने कहा, "कहिए, किससे मिलना चाहते हैं ?"

बोला, "तुम ही से।"

एक अपरिचित को अपने से इतना परिचित हुआ देख मुझे ताज्जुब हुआ।

मैंने कहा, "मैंने आपको पहचाना नहीं।" मेरे स्वर में विस्मय था।

बोला, "पहचानोगे कैसे ? मुझको भी यदि तुम्हारे बारे में बताया गया न होता तो मैं भी तुमको कभी पहचान न पाता। मैं योगेन्द्र हूँ।"

[illegible]! सुनकर मैं छला-सा खड़ा रह गया। 'योगेन्द्र तुम !"

और फिर मुझे एकाएक याद आया कि कुछ दिन हुए मेरे बहनोई ने मुझे बताया था कि योगेन्द्र यहीं कहीं पास में रहता है, और उन्होंने उसे मेरा पता भी दे दिया है। लेकिन मुझे विश्वास न हुआ कि बचपन का वह साथी, साथी ही कहो, यद्यपि उससे मेरी पटी कभी भी नहीं थी, इतने सहज भाव से मेरे दरवाजे पर आ खड़ा होगा। रहते हम एक ही मकान में थे लेकिन सदा हम एक-दूसरे के विरोधी बने रहे थे। योगेन्द्र को यह कभी न भाया कि मैं हर परीक्षा में उससे बाजी मार ले जाऊँ और मुझ से भी यह कभी न सहा गया कि योगेन्द्र इतना अच्छा खिलाड़ी बनता जाये। इसी से बात-बात को लेकर हम प्रायः भिड़ते रहते थे। लेकिन समय ने जैसे इस सब को भुला दिया था।

मैंने कहा, 'भीतर आओ, बाहर क्यों खड़े हो ?" और तपाक से उसका हाथ पकड़ कर मैंने उसे कुर्सी पर बिठा दिया।

बैठते ही बोला, "तुमने अपने स्वास्थ्य की ओर कोई ध्यान नहीं दिया मालूम होता है। क्या कर रहे हो आजकल ? जीजाजी कहते थे कि लेखक बन बैठे हो।"

मैंने कहा, "बना नहीं हूँ, हूँ। अभी एक कहानी छपी है जिसकी खूब चर्चा हुई है।"

बोला, "देखूंगा, जरूर देखूंगा। लेकिन अब ज़रा जल्दी में हूं।"

मैंने कहा, "ऐसी भी क्या जल्दी है। घबराओ नहीं, कहानी नहीं सुनाऊँगा। मैं जानता हूँ लोग नौसिखिये लेखकों से कितना कतराते हैं। जहाँ देखा, अपनी रचना सुनाने बैठ गये !"

बोला "ऐसी कोई बात नहीं। कल मिलेंगे। फिर बैठकर बातें होंगी।" और उठकर चलने को हुआ। मैंने रोकना चाहा भी, लेकिन वह रुका नहीं।

योगेन्द्र चला गया, लेकिन मेरे मन को झकझोर-सा गया। कैसा विचित्र प्राणी है ! आया भी और दो मिनट बैठा भी नहीं ! जीजाजी कह रहे थे कि जटाधारी साधु बन गया था और ऋषिकेश के किसी मठ

में रह रहा था। भाई को पता चला तो किसी तरह मनौती करके घर लाये। आजकल सरकारी नौकरी में है। मैंने जीजाजी से पूछना चाहा कि वह कब और कैसे साधु बना, लेकिन वह कहीं पहुँचने की जल्दी में थे, इसलिए बात अधूरी ही रही।

जैसा कि मैंने ऊपर कहा है, योगेन्द्र और मैं बचपन में एक ही मकान में रहे हैं। योगेन्द्र के माता-पिता नहीं थे। वह अपने भाई-भावज के साथ रहता था। घर में कुछ तंगी ही रहती थी, इसलिए आठवीं क्लास में ही उसे कमाने की ओर ध्यान देना पड़ा। बेचारा सड़क पर खड़ा हो जाता और दो-दो आने कैलेण्डर बेचता। इस तरह दिन में आठ-दस आने बन जाते थे। खाने की कभी बात होती तो चाहे जब भी पूछो, योगेन्द्र क्या सब्जी बनी है, झट से उत्तर देता, आलू। आलू से बढ़कर न ही उसे कभी कोई दूसरी तरकारी मिली और न ही रुची। इस पर भी ऐसा अच्छा स्वास्थ्य पाया था उसने कि देखनेवाले दंग रह जायें। गोरे चेहरे पर छोटी-छोटी फूटती मूछें अपना ही रोब रखती थीं।

बस मुझे बचपन की इतनी ही बात याद है। हाँ, एक बात और याद आ गयी। जैसा धार्मिक वातावरण इनके घर में था, कम ही देखने को मिलता है। फिर प्रात जब इनके भाई साहब अपने सुमधुर कंठ से अपनी स्वर-लहरियाँ छोड़ा करते थे तो तन-मन गद्-गद् हो उठते थे। मुझे स्वयं को गाने का बड़ा शौक था, इससे शायद मैंने उनके भजनों की एक कापी उठा ली थी।

दूसरे दिन मुझे योगेन्द्र की बहुत इन्तज़ार थी। उसने कुछ भी नहीं बताया था कि वह सुबह आयेगा या शाम को। मुझे घर-परिवारवालों

के कारनामों का चक्कर काटने आता था। सोच रहा था आज उससे भेंट न हुई तो बहुत बुरा होगा। उसके आगमन ने एकदम मुझमें औत्सुक्य जगा दिया था।

दिन के दस बजे डाक आयी। एक कहानी लौट आयी थी। इसे मैं अपनी अब तक की लिखी कहानियों में सर्वश्रेष्ठ समझता था। झूठे आचारों का इसमें खूब भण्डाफोड़ किया था। खैर, सम्पादक की मर्जी है। कौन रजामन्द कर सकता है उसको? किसी का प्रमाण-पत्र साथ में भेजा होता तो बात शायद बन जाती। खैर, एक कुमारीजी का भी पत्र था उसमें। बस, क्या लिखती है! किसी तरुण के दिल को गुदगुदाना तो खूब जानती है! पत्र अभी मेरे हाथ में ही था कि खिड़की पर योगेन्द्र की शक्ल दिखायी दी। मैंने झट से उठकर दरवाजा खोल दिया। बोला, "कोई नयी कहानी छपी है क्या?"

मैंने कहा, "नहीं, इन कुमारीजी से जरा···" और पत्र मैंने उसकी ओर बढ़ा दिया।

कुमारीजी का सुनकर उसका चेहरा मटैला सा पड़ गया। मैं बात समझ न पाया। मैंने कहा, "तबीयत तो ठीक है न?"

बोला, "हाँ, इन कुमारियों की सोच रहा था। हिन्दुस्तान में इन की भी अजीब समस्या है।"

मैंने कहा, "कैसे?"

बोला, "अजीब ही तो है। इनसे उलझे बिना रहा भी नहीं जाता और उलझ जाओ तो ऐसे लगता है जैसे महापाप कर रहे हो।"

मैंने कहा, "तुम्हारी बात स्पष्ट नहीं हो पायी!"

बोला, "कभी किसी से प्यार किया है कि यूँ ही लेखक बन बैठे हो? प्यार किया होता तो मुझसे यह प्रश्न न पूछते।"

मैंने कहा, "प्यार तो किया है, लेकिन मैं उन लेखकों में से नहीं हूँ जो कहते हैं कि लेखनी उठाने से पहले कम से कम एक दर्जन

औरतों से सम्बन्ध कर लेना चाहिए। कहो, तुम्हारी क्या राय है, इस बारे में?"

"राय जानना चाहते हो? तो बस, मेरी वही बात ध्यान में रखो। यदि किसी कुमारी के कौमार्य भंग हो जाने के लक्षण भी प्रकट होने लगें तो समझ लो इससे बड़ा अभिशाप तुम्हारे लिए और कोई नहीं। वह तो बेचारी नरक की भोगी बनेगी ही।"

योगेन्द्र की बात मुझे कचोट गयी। मुझे लगा जैसे मैं भी एक हत्या कर चुका हूँ।

मेरी भाव-भंगिमा देखकर वह बोला, "बस, इतने में ही उलझन में पड़ गये। चलो, आज खाना साथ-साथ ही खायेंगे।"

मैंने कहा, "मैं तो खाना खुद ही बनाता हूँ। मेरे हाथ का मंजूर है तो मुझे कोई एतराज़ नहीं।"

बोला, "एतराज तो शायद तुम्हें होगा, यदि मैं कहूँ कि चलो मेरे साथ।"

मैंने कहा, "एतराज़ कैसा? पर तुम्हें दफ्तर भी तो जाना होगा?"

"दफ्तर? हाँ, यह भी एक फिजूल का बंधन है। लेकिन अब मैं दफ्तर नहीं जाऊँगा।"

"क्यों, भाभी से पूछ लिया? एक दिन भी कमा कर न लौटो तो औरत घर में घुसने नहीं देती। मेरी तरफ ही देखो, कोई भला आदमी अपनी बेटी देने को तैयार नहीं। कहते हैं, नौकरी होनी चाहिए, चाहे सौ रुपया महीना ही क्यों न हो।"

योगेन्द्र को मेरी बात सुनकर हँसी आ गयी। बोला, "तो तुम समझ बैठे हो कि मैंने गाय घर बाँध ली है? अरे वाह रे यार, और तुम भी कहीं यह गलती न कर बैठना!"

मैंने कहा, "योगेन्द्र, एक बात मानोगे! विकारों का कोई ठौर तो है नहीं। इनको कहीं मोल लेने जाना पड़ता है? मुझे तो बस, एक ही

समाधान दीखता है। जवानी आयी नहीं कि शादी कर ली। कहाँ भागते-भागते फिरोगे ?"

योगेन्द्र शायद इसका कोई उत्तर देता, लेकिन इतने में दरवाजे पर बहनजी की आवाज सुनायी दी। दरवाजा खोला तो देखा कि उनके हाथ में तार है। बोलीं, "तुम्हें अभी-अभी गाड़ी से जाना होगा। माताजी की तबीयत ठीक नहीं है।"

मैंने बहनजी के हाथ से तार ले लिया और बोला, "बहनजी, आपने पहचाना नहीं ? योगेन्द्र है।"

इस पर योगेन्द्र ने हाथ जोड़कर बड़े आदर से बहनजी का अभिवादन किया। बहनजी बात करने के लिए अभी अपने होंठ हिलाने को ही थीं कि वह एकाएक बोला, "अच्छा, तो मैं चलता हूं।" और चलने को तत्पर हुआ। हमने लाख कहा, "भई बैठो, कुछ घर-बार की तो सुनाओ," लेकिन वह रुका नहीं। चला गया, तो बहनजी बोलीं, "कितना भला लड़का है !"

मुझे घर पर शायद कुछ और रुकना पड़ता क्योंकि मेरी माताजी कहीं भी तुरन्त मेरी शादी कर देना चाहती थीं। पिताजी ने पांच-एक रिश्ते गिनाये···एक लड़की है, देखने में बहुत अच्छी है, मां-बाप बहुत अमीर हैं, लेकिन है अनपढ़। दूसरी पढ़ी-लिखी है, इस वर्ष मिडल पास किया है, लेकिन आंख से जरा ऐंची है। तीसरी स्कूल में पढ़ाती है, शरीर से जरा भारी है और उम्र में मुझ से छः वर्ष बड़ी है, इत्यादि। मैंने समझाया, ऐसी भी क्या जल्दी है, मार्केट में ज़रा जमा हूँ, कुछ और जम जाऊँ, शादी करवाने से मुझे इंकार थोड़े ही है, लेकिन माताजी को डर था कि यदि ऐसा ही रहा तो हो सकता है हमें कोई रिश्ता ही न दे। घर की इज्जत का मामला है। पहले ही इस कारण बिरादरी में काफी बदनामी हो चुकी है। और कुछ नहीं तो लोगों ने अब यही

कहना शुरू कर दिया है कि सहरा तो गली-गली अखबार-किताबें बेचता है। इससे पहले किसी ने मुझे ट्राम में खड़े देखकर यह फैसला दिया था कि वह तो ट्राम में टिकट बेचता है।

किसी मौक़ा ने मुझे योगेन्द्र की याद आयी। इत्तफ़ाक़ ही कुछ ऐसा हुआ कि उससे और तो कई बातें हुईं लेकिन उसका ठिकाना पूछने की न ही मुझे सूझी और न ही उसने बताया। औत्सुक्य उसके प्रति अब मुझे भारी हो चुका था, क्योंकि एक तो उससे मुझे कुछ छटपटाहट-सी महसूस होती थी, और दूसरे एक साधु का लबादा पहनकर उसने क्या-क्या किया और कैसे-कैसे अनुभव किये, मैं जानने को बड़ा आतुर था। शायद आजकल के प्रत्येक युवक के जीवन में एक ऐसा क्षण आता है जब वह दीन-दुनिया छोड़कर कहीं भाग खड़ा होना चाहता है, कोई ऐसी जगह जहाँ उसकी सब कल्पनाएँ साकार हो जायें, जहां रत्ती भर भी कठिनाई-कठोरता न हो, जहाँ रोमांस-रोमांच सब कुछ देखने-सहने को मिले। मेरे जीवन में भी ऐसा एक क्षण आया था और मैं बम्बई भाग खड़ा हुआ था। लेकिन परिस्थितियों से मैंने शीघ्र ही सीख लिया था और जीवन की वास्तविकता से जूझने लगा था।

रेल की लाइन मेरे घर के पास से गुजरती है। लोकल लाइन है, इसलिए शाम को इधर से कोई गाड़ी नहीं गुजरती। मन ताजा करना हो तो कभी-कभी इधर कुछ टहल लिया करता हूँ। आज दिन भर बारिश होती रही थी, इसलिए घर बैठे-बैठे उकता गया था। शाम को टहलने लाइन पर आया तो चारों ओर ताल-तलैयां बनी दिखती थी। मेंढकों का टर्राना मुझे कभी गवारा नहीं हुआ, और आज तो उनकी टर-टर्राहट इस कदर थी कि कानों को बन्द कर देने से भी काम नहीं चलता था। खैर, कुछ देर टहलने के बाद उनकी वह टर्राहट स्वयं ही मेरे लिए मर गयी। अब मैं बिल्कुल अपनी योजनाओं में डूब गया था।

मेरी एक योजना यह थी कि अपने देश के सभी प्रमुख लेखकों के रेखा-चित्र लिखूं । दूसरी योजना यह थी कि आधुनिक साहित्य पढ़ना स्थगित करके पहले समूचा क्लासिकल साहित्य पढ़ डालूं । और तीसरी यह कि एक सही घुमक्कड़ की तरह देश का भ्रमण करूं । योजनाएं तो तीनों ठीक लगीं लेकिन उनका कार्यान्वित होना इतना सरल नहीं दिख रहा था । अपने लिखने के बारे में आपसे कह दूं कि लिखना शुरू करने से पहले मुझे बहुत सोचना पड़ता है । दूसरे, कई बार आधा पृष्ठ लिखकर ही बस हो जाती है । और तीसरे, एक रचना को कई-कई बार लिखना पड़ जाता है । जहां तक मेरे अध्ययन का प्रश्न है, मैं पुस्तकालय में बैठकर नहीं पढ़ सकता । पुस्तक मेरी निजी होनी चाहिए । और घुमक्कड़ी ? घुमक्कड़ी मुझे पसन्द तो बहुत है लेकिन बिना एक बढ़िया कैमरे के इसका क्या अर्थ ? इसलिए योजनाएं मेरी प्रायः धरी की धरी ही रह जाती हैं । योजनाएं शायद मैं कुछ और-भी बनाता, लेकिन एकाएक पांव के पास कुछ सरसराहट हुई । देखा तो, सांप ! देखकर सहम-सा गया । मन को जोर का झटका लगा । ग़नीमत यह समझो कि वह अपने रास्ते चला गया । लेकिन मेरा आगे बढ़ने का साहस न हुआ । तुरन्त घर की ओर लौट पड़ा । दरवाजा खोलकर भीतर कदम रखने को ही था कि एक पत्र दिखायी दिया । धन्य है, आज पोस्टमैन ने अपना कर्त्तव्य समझा तो है, वरना बाहर ही फेंक जाता है; उसकी बला से, हमें पत्र मिले या न मिले । पत्र में केवल दो ही पंक्तियां थीं···आशा है तुम लौट आये होगे । मैं आजकल छुट्टी पर हूँ ।···योगेन्द्र । वाह, यह भी खूब रही । पत्र आया भी और उस पर ठौर-ठिकाना फिर कुछ नहीं । शिष्टता की भी कोई सीमा होती है । एक तो बात ही नपी-तुली लिखी है और दूसरे···। पत्र को पलट कर देखा कि मोहर से ही कुछ पता चले, लेकिन मोहर भी इतनी फीकी थी कि उसका सिर-पैर पाना दुश्वार था । सोचा, आना होगा आ जायेगा, क्या कर सकता हूँ, और अपना राइटिंग पैड सम्भालने लगा ताकि एक अधूरी कहानी पूरी कर डालूं । इतने में सुना, कोई कह रहा था,

"घर पर ही हो ?"

योगेन्द्र ही था।

मैंने कहा, "भैया, खूब छकाया। कुछ ग्रोर-ठौर तो दे दिया होता!"

बोला, "याद बहुत सताने लगी थी ?"

मैंने कहा, "हाँ, बात कुछ ऐसी ही थी। सोच रहा था, तुम्हारी कहानी लिखूं।"

सुनकर वह चौंका। "मेरी कहानी लिखोगे ? क्यों, मुझ में क्या विशेषता है ?"

मैंने कहा, 'जहाँ कुछ विशेषता हो, उसी पर कहानी नहीं लिखी जाती। कहानी तो किसी को भी लेकर लिखी जा सकती है। हाँ, कुछ छू जाना चाहिए।"

"लेकिन मुझ में ऐसा क्या है जो तुमको छू गया ?" ग्रौर वह खिल-खिलाकर हँस पड़ा। उसकी हँसी मुझे कुछ ग्रजीब सी लगी। मैंने उसकी ग्रोर गौर से देखा। उसके चेहरे पर कालौंच उतर ग्रायी थी।

खैर, ग्रपने ग्रापको मैंने दबाये रखा, ग्रौर बोला, "छूने को है नहीं ? यही कि तुम वर्तमान समाज के एक युवक हो यही कि तुम में भी वही कुंठाएं हैं जो कि एक ग्राधुनिक युवक में होती हैं, यही कि ग्रब तुम्हारे भीतर ग्रन्तर्द्वंद्व छिपा हुग्रा है।"

'ग्रन्तर्द्वंद्व ?" शब्द सुनकर वह कुछ चौंका।

"हाँ, ग्रन्तर्द्वंद्व।" मैंने उसके मन पर ग्रपने प्रभाव की एक परत जमानी चाही। 'मेरा कहना मानो तो दोस्त" मैंने कहना शुरू किया, "कोई ग्रच्छी-सी लड़की देखकर तुरन्त शादी कर लो। ग्रौरत का यदि प्यार मिले तो इससे बढ़कर ग्रौर कुछ नहीं।"

"शादी! ह हः हः"।" वह हँस पड़ा, "तुम सोचते हो शादी ही सो दवाग्रों की एक दवा है!"

मैंने कहा, "हाँ, कम से कम ग्राज के युवक के लिए तो मैं यही समझता हूँ।"

"तो देखा तो मजा शादी का भी !" और उसके चेहरे पर कठोरता झलकने लगी। "तुम क्या समझते हो मैंने शादी का मजा नहीं चखा है ? एक नहीं, तीन-तीन बार शादी कर चुका हूं।" उसके चेहरे की मुद्रा और भी कठोर हो गयी थी।

मेरे मन में उसके प्रति कुछ भय सा पैदा हो गया। बचपन में हम प्राय: पांच वर्ष तक एक ही मकान में साथ-साथ रहे थे। जब कभी भी उसे मुझ से द्वेष होता था उसके चेहरे पर ऐसी ही कठोरता उभर आती थी। लेकिन अनुभव ने अब मुझे स्थिति को सम्भालना सिखा दिया है। मैंने बड़ी सौम्यता दिखाते हुए कहा,

"डीयर सी, लगता है ज़िंदगी में बहुत चोटें खा चुके हो।"

"चोटें !" वह विक्षिप्त-सा बोला, "मैंने चोटें नहीं खायीं, मैं डसा गया हूँ। मुझे सांपों ने डसा हैं। मुझे अब भी सांप डस रहे हैं।"

"सांप !" मैं एकाएक भयातुर हो उठा। अभी-अभी जो मैंने सांप देखा था वह मेरी आंखों के सामने रेंगने लगा।

"घबराओ नहीं," उसने मेरी मन:स्थिति भांपते हुए कहा, "तुम तो झट से घबरा जाते हो, और क्या सुनोगे ?" और उसने कहना जारी रखा, "जब अन्त:करण कचोटने लगता है तो यह सांपों का डसना ही तो हो जाता है। कितनी बार रातों को बैठ-बैठकर सोचा है मैंने कि यह मैंने क्या किया, यह मैंने क्या किया। किस-किस को याद करूँ, किस-किस को सोचूं। यह ठीक है कि मैं साधु बना था, यह भी ठीक है कि मैंने दाढ़ी-मूंछ रखी थी, यह भी ठीक है कि मेरी लम्बी-लम्बी जटाएँ थीं, लेकिन वह सब ढकोसला था. सब चाल थी, केवल एक लक्ष्य के प्रति, और वह लक्ष्य था नारी। क्यों, ताज्जुब में पड़ गये ? ताज्जुब में न पड़ो। अभी और सुनो। कुछ लड़कियाँ, सुना होगा, पैसे की झंकार ज़रा जल्दी सुनती हैं। पहाड़ों की तरफ कभी गये हो ? नहीं गये ? बस, अपना उधर ही डेरा रहता था। जहाँ जो दाँव चला, चला दिया। अपनी आंखों के सामने तो अब उस सब का एक ही चित्र है, जैसे कहीं

हुए उठ रहा हो और गिर रहा हो। राइज एण्ड फॉल। उठा-पटक। मैं जानता हूँ कि मैं अपने चित्र को स्पष्ट नहीं कर पाया हूँ, लेकिन इससे अधिक स्पष्ट कर पाऊँगा भी नहीं। एक दिन की बात है कि मैं हरिद्वार से दिल्ली आ रहा था। अपने उसी श्मश्रु वेश में था। मेरे कन्धे पर एकाएक एक व्यक्ति हाथ रखते हुआ बोला, "चलिए बाबाजी, हमारे साथ चलिए।" मैं घबराया, लेकिन प्रकटतः मैंने अपना भाव विकृत न होने दिया। "कहिये, कहां ले जायेंगे मुझे?" मैंने पूछा। 'अहमदाबाद," उसके चेहरे पर सौम्यता थी। "अहमदाबाद में मैं एक कारखाने का मालिक हूँ, आपको जो सुविधा चाहिए दूंगा।" मैंने साधुओं का धर्म निभाया; मुझ से इंकार करते न बना। व्यक्ति ने जो कहा था ठीक था। अहमदाबाद में मुझे हर प्रकार की सुविधा दी गयी। मेरे ऊपर स्नेह भी बरसाया गया। तुम जानते हो बचपन मेरा स्नेह से वंचित रहा है। होते-होते मेरा साधु वेश मुझसे छिन गया और मुझे अपने प्राकृतिक रूप में आना पड़ा। फिर मेरी शादी भी कर दी गयी।"

"शादी?" मेरी एकाएक मोहिनी टूटी।

"हाँ, शादी। इसी की तुम चर्चा कर रहे थे न? लेकिन मेरी दो दिन भी निभ न सकी। औरत सोचती है, आदमी नहीं मिला, गुलाम मिला है। कोल्हू के बैल की तरह उसको जैसे चाहो जोतो।"

"फिर?" मैंने जानना चाहा।

"फिर क्या? एक रात मैं उसे छोड़ कर भाग उठा, और वापस हरिद्वार आ गया। थोड़े ही दिनों बाद सुनने को मिला कि उसने आत्म-हत्या कर ली है।"

"इससे यही प्रकट होता है कि तुम जिन्दगी से हमेशा कायरों की तरह भागते रहते हो," मैंने उपदेशात्मक ढंग से कहा।

"कायरता? कायरता कैसी? जिन्दगी हमें देती ही क्या है? हमें ऐसा लगता है जैसे हम चारों ओर से ईर्ष्या-द्वेष से घिरे हुए हों। बताओ, ऐसे में कोई क्या पनप सकता है?"

मैं जानता था कि योगेन्द्र झूठ नहीं कह रहा, लेकिन उसकी बात को प्रशस्ति देना मैंने ठीक न समझा। मैंने कहा,

"ठीक है, यह कायरता नहीं तो और क्या है? कभी किसी बलवान के मुंह से ऐसा नहीं सुनोगे।"

योगेन्द्र शायद अपनी दूसरी और तीसरी पत्नियों के बारे में भी कुछ बताता, लेकिन मैं जानता हूं कि किस्सा एक ही है। आज के मानव में सहज भाव तो लुप्त ही हो चुका है। जो रह गयी हैं, वे हैं मानसिक जटिलताएं। जाने कहां-कहां की गुंफरें पड़ती जा रही हैं!

योगेन्द्र चला गया। इसका मुझे रत्ती-भर भी भान न हुआ। कि लौट कर वह फिर कभी आयेगा, इसकी मुझे तनिक आशा न थी।

योगेन्द्र का मुझे पता चल गया था, लेकिन इतना उलटा-सीधा कि उसको ढूंढ़ निकालना आसान काम न था। इधर कुछ अनुवाद करके मैंने अच्छा नाम कमा लिया था। मुझे लगा कि मेरी सफलता पर योगेन्द्र को बहुत खुशी होगी। उसका घर ढूंढ़ने जो निकला तो ढूंढ़ ही लिया। हारडिंग ब्रिज के पास मजदूरों की एक बस्ती में रह रहा था। मुझे जैसे कि कोई अन्त प्रेरणा उसके पास ले गयी थी। क्योंकि पहुंचा तो महोदय बिस्तर के अतिथि बने हुए थे। पास में कोई तीमारदारी करनेवाला भी न था। देख कर मेरा मन भर आया। मैंने कहा, "यार, हद करते हो, एक पत्र ही भेज दिया होता।"

इससे पहले कि योगेन्द्र कुछ बोले, मुझे अपने पीछे एक नारी-कंठ सुन पड़ा। सहज ही ध्यान उधर गया। उम्र मुश्किल से बीस वर्ष होगी। लेकिन उसके चेहरे पर ताज़गी ऐसी कि देखो तो देखते ही जाओ। मेरा परिचय योगेन्द्र ने शायद कभी पहले उसे दिया हो, क्योंकि उस वातावरण में मुझे कुछ भी अपरिचित न लगा। युवती ने कहा,

"आपने कभी अपने मित्र को समझाया नहीं? आप तो लेखक हैं।"

मैंने कहा, "क्यों, ऐसी क्या बात है ? योगेन्द्र को भी समझाने की जरूरत है ?"

बोली, "समझाने की जरूरत तो नहीं, इससे कौन नाटता है, पर इनसे पूछिए, पुल पर से क्यों कूदने लगे थे ?"

सुनकर मैं एकदम सकते में आ गया। घबराया सा बोला, "क्या मतलब है आपका ? इसने आत्महत्या···?"

"हाँ, आत्महत्या, मैंने आत्महत्या ही करनी चाही थी। इस जीवन का मैं ऐसा ही अन्त करना चाहता था, लेकिन रूपा—ओ ऽ ऽ ऽ," और जैसे योगेन्द्र पीड़ा से कराह उठा।

मेरी समझ में कुछ नहीं आ रहा था। योगेन्द्र वैसे ही धीरे-धीरे कराहे जा रहा था, और उसकी आँखों से पानी बहने लगा था।

मैंने रूपा की ओर देखा। उसके चेहरे की ताजगी जाने कहाँ उड़ गयी थी। वहाँ तो बरसों की वीरानी घर किये हुए थी।

मैं ऐसे में कुछ भी बोल न सका, कुछ भी नहीं। मेरे मन में शून्य था, एकदम शून्य !

नंगे

"चपरासी-ऽ-ऽ-ऽ...चपरासीऽ-ऽ-ऽ!"

उसने सुना, वह पुकार रहा था।

वह कॉरिडोर में खरामां-खरामां चला आ रहा था। वहां कॉरिडोर में भी उसे उसकी आवाज़ सुन पड़ रही थी। चिल्लाने दो, उसने सोचा, इसकी चिल्लाने की आदत ही है···कोई आसमान थोड़े ही टूटा पड़ रहा है। अभी तो लोग आये ही हैं···चपरासी न हुआ, घर का नौकर हो गया···

उसने धीरे से नॉब घुमाया और कमरे के भीतर हो लिया। यहां उसे सुख मिला। बाहर तो बर्फानी हवा उसकी कनपटियों को छेदे जा रही थी। तभी तो वह मोटे के पास दो-एक मिनट रुककर बीडी पीता रहा था और हीटर तापता रहा था। मोटे की तो चाँदी है। सरकारी खर्चे पर हीटर फूंको और मुनाफा डालो जेब में। तनख्वाह मिली सो मुफ्त। स्साले ने बरामदे की नुक्कड़ में बेंच खूब जमा रखी है। उसी

पर चाय बनाता है और उसी पर सोता है। सिरहाने हीटर जलता रहता है। मुनाफे के लालच में स्साला घर भी नहीं जाता। ओम ने तो यहाँ की रद्दी बेच-बेचकर सिगरेटों का धंधा चला लिया।…सिगरेट, बीड़ी, चाय गरम! उसका मन हुआ कि एक जोर की आवाज लगाये लेकिन इतने में साहब की आवाज फड़फड़ाती हुई उसके कानों से आ टकरायी चपरासी-ऽ-ऽ-ऽ…। इतना बड़ा कमरा, इस कोने से उस कोने तक, और उस में साहब की आवाज ऐसे भरती है जैसे कोई बवंडर में फंसा प्रेत चीख-चीखकर बेहाल हो रहा हो।

वह सब से बचता धीरे से साहब के सामने जा खड़ा हुआ। सामने की घड़ी पाँच-बीस बजा रही थी। उसे ध्यान आया जब वह पहला पेज लेकर गया था उस समय पूरे पाँच बजे थे। अब तक दूसरा पेज भी कट जाना चाहिए था। सात बजे से बुलेटिनें ब्राडकास्ट होना शुरू हो जायेंगी। वाकई, देर हो गयी, उसने सोचा, और चाहा कि लपक कर टेबल से स्टैंसिल उठाकर रोन्योरूम की ओर भागे, लेकिन इतने में उसकी नजर साहब के चेहरे पर पड़ी। वह बुरी तरह खिंचा हुआ था, और साहब जोर-जोर से बोल कर स्टेनो को कुछ लिखवा रहे थे। अच्छा हुआ, उन्होंने उसे नहीं देखा, उसने सोचा, वरना सुबह-सुबह कुछ का कुछ सुनना पड़ जाता।

उसने बड़ी फुर्ती से स्टैंसिल के पेज निकलवाये और लपकता हुआ-सा यूनिट्स की ओर बढ़ चला। वह जानता था कि यूनिट्स को सारा मैटर साढ़े छः बजे तक पहुंच जाना चाहिए। उन्हें अनुवाद करने में भी तो कुछ समय लगता है।

लेकिन न्यूजरूम से बाहर निकलते ही ठंड उसे फिर छीलने लगी। सारा शरीर फुरफुरा गया। उसका मन हुआ कि लौटती बार मोटे से एक गिलास चाय पीता जाये। लेकिन पैसे? मोटू स्साला क्या उधार देगा? पहले के ही नहीं निबटे हैं। यह स्साला साहब भी तो नहीं चाय पिलाता! चपरासी-ऽ-ऽ-ऽ…चपरासी-ऽ-ऽ-ऽ…चिल्लाने आयेगा,

जैसे उसका नाम न जानता हो। मैं भी किसी तरह बी० ए० पास कर लेता तो किसी तरह स्टेनो तो बन ही जाता। हायर सैकंडरी और फिर बी० ए०। यह साहब भी शायद बी० ए० ही है।

वह धड़ाधड़ यूनिट्स में पेज बांट रहा था। कन्नड़, मलायलम, बंगला, असमिया'' पहले दिन उसने तख्तियों को बड़े गौर से पढ़ा था। इतनी भाषाओं के नाम उसे पहले नहीं पता थे। वह समूचे दक्षिण को मद्रास और वहां की भाषा को मद्रासी समझता था। अब उसे पता चला था कि मद्रासी नाम की तो कोई भाषा है ही नहीं। उस दिन उसने रेडियो पर यह भी सुना था कि मद्रास का नाम अब तमिलनाडू हो गया है।

पेज बांटते-बांटते वह डर रहा था कि कोई कुछ कह न दे। अभी आठ महीने नौकरी पर आये नहीं हुए थे और दो बार उसकी शिकायत हो चुकी थी यह तो कुछ यूनियन के कारण और कुछ साहब के कारण बात दब गयी, वरना पत्ता साफ हो गया होता !

हो जाये पत्ता साफ, उसने मन ही मन सोचा, कौन-सी बड़ी जागीर मिली है ! यह तो अम्मा ने मजबूर किया, वरना अपने राम को कौन-सी आफत सता रही थी। सुबह ऐसे कड़ाके की ठंड में आठ मील साइकल चलाकर यहां पहुंचो, और उस पर भी कोई-कोई साहब लोग बरस पड़ते हैं। खुद तो कार में आते हैं और न्यूज़रूम में पहुंचे नहीं और हीटर से सटकर बैठ गये, और हम कहीं बैठे दिखायी दे जायें तो सांड की तरह फुफकारने लगते हैं। असगर तो किसी-किसी साहब के सामने ही कुर्सी पर डट जाता है। "मैंने क्या स्टेनो का ठेका ले रखा है ?" उसने (असगर ने) इसी साहब को एक दिन कह दिया था। उसको भी एक दिन कह रहा था कि डरने की कोई जरूरत नहीं।

उसने दीवार पर टंगी घड़ी देखी। पाँच सत्ताइस ! एक-एक कमरे में दो-दो घड़ियाँ हैं। सब घड़ियाँ पाँच सत्ताइस बजा रही हैं। यह मेम साहब खूब मज़े-मज़े मुँह से धूआँ छोड़ती रहती है। एक घंटे में एक

पेंट फूंक डालती होगी। चाय नहीं पीती, कॉफी पीती है। हर रोज़ नये-नये भेस बदलती है। स्साली मुझे एक मौका दे तो···उसने मन ही मन चूमी सी। उस दिन तो आते-आते लॉन के पास उसे वह रबर का ···दिखायी दे गया था। सच, उसने अभी तक उसे ठीक से देखा ही नहीं था, यानी इधर-उधर लिखा देखा था, निरोध ! था, लाल तिकोन ···दो या तीन बच्चे, बस,···डाक्टर की सलाह मानिये। ···डाक्टर की सलाह मानिये और नसबंदी करवाइए, वह मन ही मन हंसा। ···नसबंदी करवाइए, और 'सेफ पुरुष' बन जाइए ···'सेफ पुरुष', जिससे किसी को कोई खतरा नहीं··· यानि नहाया-धोया घोड़ा !···

वह दौड़ा-दौड़ा न्यूज़रूम में वापिस आया। टाइम कैसे सरकता है ! तीन मिनट हो भी गये। बाकी साहब भी अपनी-अपनी टेबलों पर डट गये हैं। अगर उसको देखकर आँख मारता है। साहब लोगों से चाय पीने की तरकीब था मैं बताऊं तुझे उसने एक दिन उसे कहा था, तू अभी बच्चा है। कह दिया कर कि मैटर ज्यादा हो रहा है, या कम पड़ रहा है, या यूनियन वाले परेशान हो गये हैं ···और साहब लोगों के फिर देखो हाथ-पाँव फूलते। और साथ में यह भी जोड़ दिया कर, मैंने सब ठीक कर दिया है। अक्लमंद साहब होगा तो खुद ही समझ जायेगा···!

क्या वह साहब पर यह ट्रिक आजमाये ? उसे साहब पर तरस आया। अच्छा-भला आदमी ! न्यूज़रूम में आया नहीं और उसे 'कुछ' हुआ नहीं। यहाँ वैसे सभी को 'कुछ' हो जाता है। वे जल्दी-जल्दी बोलने लग जाते हैं। कभी-कभी तो बात भी समझ नहीं आती। और फिर, कभी इस पर बिगड़े, कभी उस पर नाराज़। जब तक कि बुलेटिन खत्म न हो जाये। बुलेटिन खत्म हुई नहीं कि वही अच्छे-भले के अच्छे-भले। वह साहब से घर में भी दो-तीन बार मिला था। मुहल्लेदारी है। अम्मा ने उसे कहा था कि मेरे बेटे की नौकरी लगवा दो तो साल भर मुफ्त दूध दूंगी। साल भर मुफ्त दूध ! अम्मा भी हर किसी से ऐसी ही साँठ-गाँठ करती फिरती है। लेकिन उसने अम्मा को कहा था कि नहीं, ऐसी बात

नहीं। जमाना ही ऐसा खराब आ गया है कि किसी के हाथ में कुछ रहा ही नहीं और साल भर मुफ्त दूध कौन देता है ? फिर तो दूध के नाम पर पानी ही पिलायेगी···! लेकिन फिर भी वह उसके पास गया था। भीतर से बड़ा रोबीला घर। फ्रिज, सोफा सेट, डाइनिंग टेबल···सब कुछ। उसे वैसे सोफे पर बैठते भी संकोच हो रहा था···

"तुम हायर सैकंडरी पास हो ?" उसने हैरत से पूछा था, "तो क्यों नहीं घर का ही कोई काम करते ? नौकरी में क्या पड़ा है ?"

लेकिन चाय की व्यवस्था होनी ही चाहिए, उसने सोचा। चाय नहीं मिलेगी तो काम करने का कोई मजा नहीं आयेगा। इतने में उसने देखा कि यद्यपि वह साहब के पास खड़ा था फिर भी साहब उसे पुकार रहा था। उस ने बिना कुछ बोले साहब से स्टैंसिल ले लिया और उसके वजन को तौलता रोन्योरूम की ओर बढ़ चला।

रोन्योरूम में दो-तीन अन्य चपरासी जो वहां बैठे थे अपने मुँह से चाय के गिलास लगाये चाय सुड़क रहे थे। चाय !···पानी खौल रहा है···चाय !···खौलते पानी में पत्ती डाली जा रही है ··चाय ! गिलासों में चीनी डाली जा रही है···चाय ! ···चाय ! चाय !

"लो, अपने पेज लो, और भागो यहाँ से," उसने रोन्यो ऑपरेटर को कहते सुना। स्साला ! यह भी अपने को साहब से कम नहीं समझता। एक पेज फालतू माँगने आओ तो आँखें दिखाने लगता है।

कॉरिडोर में हवा पहले जैसी ही ठंडी थी। यख ! लगता है शिमला में फिर बर्फ पड़ी है। वह आते-आते मॉनीटरिंग यूनिट···नहीं, नहीं, अनुश्रवण एकक, हाँ, मैं हिन्दी बोल रहा हूँ···से पता करता आयेगा। ऐसे में तो शिमला में अंगुलियाँ गल जाती होंगी। ···उसने सुन रखा था कि बर्फ में उंगलियां गल जाती हैं !

वह फिर पेज बांटना शुरू करता है, असमिया, बंगला, उड़िया,

कन्नड़, मलयालम, तमिल, तेलुगु …ऐ, पेज इतने देर से क्यो लाता है ? …कौन एडिटर है आज ?…

वह घड़ियों की तरफ देखता है । पाच पैंतीस ! अरे, अभी तक तीन ही पेज बंट पाये हैं ! अब तक चार बट जाने चाहिए थे ! जल्दी ! जल्दी ! चाय ! चाय ! …जल्दी ! जल्दी ! चाय ! चाय ! चाय ! चाय ! चाय ! …मोटे, मुझे चाय पिला दे…मोटे…पैसे दूंगा…जरूर दूगा…अभी नही…मोटे…जेब खाली…जेब…मोटे…

साहब की भी जेब खाली होगी…अम्मा कह रही थी इस महीने भी पूरे पैसे नही दिये…कोई भी पूरे पैसे नही देता…दूध पीते हैं और पूरे पैसे नही देते…इस महीने अस्सी ले जाओ, अम्मा… अस्सी…डेढ सौ किराया देता है · लडकी के स्कूल का खर्चा बहुत आ गया है इस बार… मत पढाओ महगे-महगे स्कूलों में…अगरेजी स्कूलो मे अगरेज तो नही बन जाओगे…अंगरेज मर गये, औलाद छोड गये…हम भी तो पढ़े हैं…पर हमारा उनका क्या मुकाबला ! …मुकाबला है भी क्यो नही ! आदमी हम भी हैं, आदमी वोह भी है…नही, यह सारा फर्क तालीम का है … अपनी किस्मत का भी है…किस्मत क्या होती है ! … होती है…नहीं होती…किस्मत खुद बनायी जाती है…कौन अपनी किस्मत बना सकता है ?…

चपरासी-ऽ-ऽ-ऽ… ! नगा स्साला ! …एक कप चाय पिला नहीं सकता, और चपरासी-ऽ-ऽ-ऽ…चपरासी-ऽ-ऽ-ऽ…चिल्लाता है…। नहीं आऊगा। अम्मा भी सब पैसे ऐंठ लेती है । भैंसें लाओ, भैंसें । जब बेकार घूमते थे तब कोई नही पूछता था । अब कमाते हैं तो सभी नोचने को तैयार हैं। कमाते भी क्या हैं खाक ! अभी तो चपरासी भी पक्के नहीं हुए । डेली वेजिज पर ही चल रहा है । मजदूर । आओ, दुनिया के मजदूरो एक हो जाओ । कौन साला एक होता है ! सब को अपनी-अपनी पड़ी रहती है ।…और खासकर हमारे देश में तो…। डेली वेजिज ! इससे ज्यादा तो साहब के हर महीने दूध के हो बनते हैं ।…लेकिन यह साहब भी सचमुच

है, उभर रहा है। उभरेगा ही। ब्लैक करो ब्लैक! तभी बिल्डिंग खड़ी हो पाएगी। सुना, उस स्टोरवाले को भी इन्होंने काफी पैसे देने हैं।···

नारानी-ऽ-ऽ-ऽ···।

आ खड़ा हुआ, हुजूर।

"पेज जल्दी-जल्दी क्यों नहीं पहुंचाते ? टांगों में सीसा भर गया है क्या ? कब से मैं पुकार रहा हूँ !"

"साहब, वोह कह रहे थे पेज पढ़े नहीं जाते।"

"पढ़े नहीं जाते तो मैं क्या करूँ ?"

लेकिन फिर उसने देखा, साहब के हाथ-पांव टूटकर जैसे अलग-अलग जा पड़े हैं। "पेज नहीं पढ़े जाते तो बुलेटिन कैसे बनेगा !···या खुदा, अब क्या होगा···!"

"नहीं, नहीं, घबराने की बात नहीं, मैंने सब ठीक कर दिया है। अच्छा, चाय लाऊँ !"

"चाय, यह चाय का वक्त है ?" और फिर जाने साहब को क्या सूझती है, "अच्छा, जाओ ले आओ। एक अपने लिए भी।"

और फिर वह स्टैंसिल लेकर ऐसे दौड़ा जैसे प्रेतदूत हो।

८२१६
20/2/60